जीवन के पहलू

लेखक

अमृतराय

इलाहाबाद

क्रम

अम्माँ को

जिस तरह आज से पंद्रह-सोलह बरस पहले एक दिन मैंने तुम्हें अपनी नेचर-स्टडी की जानकारी के प्रमाण में 'अपने' खेत से गोभी का एक फूल लाकर दिया था, जो कुछ खास न था, न रूप-रंग में, न स्वाद में ही, मगर जिसकी तरकारी तुमको और घर में सबको बड़ी मीठी लगी थी।

उसी तरह दुनिया की नेचर-स्टडी का यह गोभी का फूल भी तुम्हीं को देता हूँ।

—ब.

भूमिका बाँध रहा हूँ !

यह मेरा पहला कहानी-संग्रह है। इसमें मेरी सन ३७, ३८ और ३६ तक की कहानियाँ हैं। मैंने सन् ३५ में लिखना शुरू किया था— 'बालक' में। 'बालक' तब श्री शिवपूजन सहाय के संपादकत्व में निकलता था। सन ३६ में मेरी पहली कहानी 'भारत' में छपी थी। तभी से मैं नियमित रूप से वयः प्राप्त (!) लोगों के लिए लिखने लगा। ये कहानियाँ और कुछ और भी जिन्हें मैंने संग्रह में देना ठीक न समझा, सरस्वती, चाँद, माधुरी, विश्वमित्र, हंस, कहानी, जीवनसखा, भारत, योगी, जनता, विचार, सचित्र भारत आदि पत्रों में छपीं। मगर आसानी से नहीं, काफी टक्करें खाकर। पर अब मुझे लगता है कि यह मेरे हक में बहुत अच्छा हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उस वक्त जब कोई कहानी कहीं से लौटकर आती तो मेरा पाव भर खून जल जाता; मगर आज मुझमें इतनी अकल आ गयी है कि शुरू के दिनों की उन टक्करों को वरदान के रूप में लूँ। उन्हीं के कारण शायद मुझे इतनी ताकत मिली कि आज भी कलम घिसता जा रहा हूँ। इसलिए जहाँ मैं उन सम्पादकों का आभार स्वीकार करता हूँ जिन्होंने मेरी इन आरंभिक रचनाओं को छापकर मेरा उत्साह बढ़ाया (जिसके बिना भी किसी का काम नहीं चलता), वहाँ मैं उन सम्पादकों का ऋण भी स्वीकार करता हूँ जिन्होंने मेरी रचनाएँ लौटाकर मुझे विकास के पथ पर आगे बढ़ाया। मैं जानता नहीं, लेकिन मेरा अनुमान है कि जिस पौदे को उगने के लिए कड़ी धरती नहीं फोड़नी पड़ती, उसकी जड़ मजबूत नहीं होती।

ये मेरी पहली कहानियाँ हैं, यह बात इसलिए नहीं कही गयी है कि

इससे समीक्षक-पाठक का हृदय पसीज उठे ! यह केवल एक तथ्य है, जिसका उल्लेख आवश्यक था।

यह कहानी-संग्रह आपके सामने रखते हुए न तो इस झूठे विनय से मेरे कंधे टूटे जा रहे हैं कि इन कहानियों में कुछ नहीं है (क्योंकि तब किस मुँह से मैं आपसे दो रुपया खर्चने को कहूँगा !) और न यह झूठा दर्प ही मुझको मोहाच्छन्न कर रहा है कि गुणीजन इन कहानियों को पढ़कर ठगे-से रह जायँगे। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ऐसा कुछ नहीं होगा।

कहानियाँ अच्छी हैं या बुरी, इसका निर्णय तो आप ही करेंगे। मैं उसके सम्बन्ध में क्या कहूँ। अपने दही को कोई खट्टी नहीं कहता, यह कहावत तो आपने भी सुनी होगी। मैं जब कुछ तटस्थ होकर (यानी जितना हो सकता हूँ) इन कहानियों के बारे में सोचता हूँ तो इनमें कुछ कहानियाँ मुझेबहुत अच्छी लगती हैं, कई काफी सामान्य लगती हैं, रद्दी एक भी नहीं लगती। सम्भव है, आपको ऐसी भी कोई मिले। मुझे आश्चर्य न होगा। टेकनीक के कुछ नये प्रयोग मैंने करने चाहे हैं, बात भी कुछ नयी कहनी चाही है। पता नहीं, कामयाबी मिली या नहीं।

दो सौ पन्नों की किताब के लिए इतना आत्म विज्ञापन काफी है, ज्यादा होने से आपको अजीर्ण हो जायगा जो मेरे लिए ठीक न होगा। इसलिये बस।

बाकी, सिनेमा के हैंडबिल की भाषा में, पर्दे पर देखिए !

—लेखक

हम रखेल

मानो अपनी अनहोनी मदिरता से चौंका देने वाले किसी सपने को देखकर ठिठक गया हूँ—

अभी अपने गाँव के फाग से लौटकर आया हूँ। रंग—अबीर—गुलाल—कीचड़।

और मिला हूँ रजेसरी से जो नारी है, और महेसरी से जो नर है, और नन्देसरी से जो रखेल है, यानी नारी नहीं, मानव नहीं, दोनों के बीच एक अधकचरा समझौता।

रजेसरी, महेसरी, नंदेसरी और मैं।

× × ×

हमारे गाँव का पुराना कायदा है कि कुछ खास त्यौहारों पर आसपास के जिले तहसील के जो लोग आ सकते हैं, आते हैं।

रजेसरी, जो कैशोर्य से उछलकर सीधे मातृत्व में जा ढेर हो गयी

है, जिसे खुद अभी आँचल की ओट चाहिए और जो अपने पति के घने बाल वाले सीने में मुँह धँसाने के बजाय, माँ के वक्ष में लग जाना चाहती है। ऐसी रजेसरी। सात बरस उसकी शादी को हुए हैं; अब वह इक्कीस की है, कुछ माह कम।

महेसरी, जो पेशकार होने की आकांक्षा के झूले में बचपन से अपने को झुलाता रहा है अब तक; पहले दुकड़हे चश्मे और सरकंडे की कलम से, अब तेल में चिपचिप जूते और चीकट कमीज से। पर व्यक्ति बदला नहीं है। वैसा ही है, अपने शिखर से चार हाथ दूर, मुख्तार का मुहर्रिर है। पेशे से लगा हुआ है, शहर में रहता है, वहाँ के क़ायदे क़ानून का जानकार है, गाँववालों का राजा है। चाहे तो उन्हें सलाह दे सकता है, या अपनी नफ़रत से पीस सकता है।

और नन्देसरी——तो खेल है। यानी उसका व्यक्तित्व उसके पास कहाँ, शरीर है। और जब केवल शरीर है तो खेल का शरीर उघाड़ना कापुरुषता है। नारी का शरीर तो उघाड़ा भी जा सकता है, यहाँ तक कि मोह के साथ। पर खेल का नहीं। मुझे डर है, विकृति के साँचे में पीसे जाते हुए उसके अंगों पर मेरी आँख से कहीं लोहू न टपक जाय। वह काठ भी तो नहीं है, नहीं तो कुर्सी मेज की तरह उसकी भी रूपरेखा शौक़ से दे सकता था। वह तो मूर्त चीत्कार है, पर देखो, तो काठ, गहर, ठक्-सी, भावहीन, बेबसी की बेबस दलील।

ये हैं, हम सब—आस-पास के चार-छः जिलों में झरबेरियों की तरह छिटके हुए। दो दिन को राग रंग मनाने को साथ आ रहे हैं। कितना गाया, रसिया गाने, नवेली-भौजाई-मन-मोह-लियो-री। कितना रंग उछाला, काला, पीला, गुलाबी, बैंगनी, टेसू और कुछ बेरंग के

रंग। बड़ा रस लिया। मुझे बड़ी खुशी हो रही है कि मन का सौदा करना भूला नहीं हूँ। अपने को दिया, दूसरे से लिया स्नेह। मानों कहीं एक ऐसे अजाने टापू पर जहाँ सभी अमित्र हों, आधे दर्जन आदमियों का एक गुच्छा एक-दूसरे में समा जाने को आतुर हो। हममें से कोई अभी दादी की भूत वाली कहानियों को भी नहीं भूला है जब कि बचपन में हम भूतों से डर कर अपनी भाभियों और बड़ी ब्याहता बहनों, बालपने में ही श्वेत वैधव्य को ढो ले चलने वाली फूफियों से लिपटकर भूत को ललकार देना चाहते थे, उसे ताल ठोंक चुनौती देना चाहते थे। भावनाओं का वह श्लथ भार अभी भूला नहीं है, जिसे समझने का अवकाश आज मिला है। आज, जब जीवन की चौहद्दी पर निकम्मेपन ने संगीनें गाड़ दी हैं। उन कहानियों के भूत तो बड़ी कसरत से आज भी यथार्थ में मिलते ही रहते हैं, बड़े-बड़े खपरे जैसे दाँत वाले, माथे पर मेंढ़े की तरह सींग वाले, आदमी के खोपड़े के तसले लिये हुए, नई जर्मन सिलवर की कटोरियों जैसी चमकती, डब्बे जैसे आँख वाले, डरावने भूत। पर अब वे व्यक्ति तो कल्पना से भी बाहर जा पड़े हैं जिनसे लिपट, ज़िनके बूते हम इन भूतों को ललकारते। कुछ यही कमी पूरी करने को हम सब बचपन के साथी कुछ दिन साथ रह लेना चाहते हैं।

और परसों रात होलका जली थी। लकड़ी के कुन्दे अब भी सुलग रहे हैं, धुआँ दे रहे हैं, भक्तों को राख दे रहे हैं; अब भी, यानी जब हम सभी रजेसरी, महेसरी, नन्देसरी, मैं, दूसरी-दूसरी सवारियों पर चार दिशाओं को, तम्बू-खेमा उखाड़ कर चले जा रहे हैं—भूतों से पैंतरेबाज़ी करने।

और नन्देसरी के लिए पालकी खड़ी है और दो कहार जो बेशर्मी में साव की कमी पूरी करते हैं। और नन्देसरी क्या कहे, उसके पास

छिपाव क्या, ओट कहाँ। अनमनी वह, जो मुँह में जैसे राख लेकर पालकी में उठँग कर बैठ गई है।

महेसरी भी चला गया है। रजेसरी अपने पति का इंतज़ार कर रही है।

एक साल बड़ी जल्दी से बीत गया है। मैं अबकी काफ़ी जल्दी गाँव पहुँच गया हूँ। देखता हूँ—जैसे एक लौकी लेकर कोई उसमें बबूल का काँटा बार-बार गोदे और उसे चलनी कर दे, ऐसा लगता है। आने के साथ ही कुछ खबरें मिली हैं—भूतों से पैंतरेबाज़ी करने जो गये हैं उनके नाम भी तो दर्ज हैं। सुना रजेसरी का शौहर मर गया। मर गया, अच्छा हुआ, उसमें क्या। पर जिसमें उसका मरना अखरे, इसका वह जनमजुग्गी इन्तजाम कर गया है। मरने के पहले, न जाने किस गोलमाल से उसके दो बच्चे छीन कर उसकी ननद की हिफ़ाजत में रख दिये गये हैं, और बाँट-बखरे में रजेसरी के हिस्से उसकी सबसे छोटी, दूध-पीती पियरिया पड़ी है। जायदाद का कोई हिस्सा भी वह रजेसरी के लिए नहीं छोड़ जा सका है क्योंकि उसे शुबहा हो गया था कि रजेसरी और उसके देवर में कोई बात है!

देखा, वह चली आ रही है। सफेद।

पूछा—रजेसरी!·····और शब्द मुँह में बन ही न सके, ज़रूरत भी न थी।

सुना नन्देसरी को उसके मालिक ने ठोकर मार कर निकाल दिया है क्योंकि उसे गर्भ रह गया। वह रखेल कैसी जो इसका इन्तज़ाम भी न कर सके।

देखा नन्देसरी अपनी तीन-चार माह की कमज़ोर लड़की लेकर

चली आ रही है। कुछ बात तो करनी ही थी। उसके हाथ में पिटारी देख कर पूछा, क्यों नन्दी उसमें क्या है ?

नन्दी ने लापरवाही से कहा—बिंदी-टिकुली-मिस्सी···खोला, तो पीपल के गोदे।

नन्दी 'अब उसमें यही रहता है' कह हँस पड़ी। व्यथा का एक समुंदर जैसे पछाड़ खाकर गिर पड़ा।

और जब मैंने बताया कि मालिक से झगड़ पड़ने के लिये मैं नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया हूँ, तो उसे बड़ा अचरज हुआ। राजनीति-वाजनीति वह क्या जाने पर उसे अचरज हुआ कि रखेल, रखेल ही है, चाहे वह मुझ-जैसा पढ़ा-लिखा और मुझ-जैसा मर्द ही क्यों न हो !

और हम एक-दूसरे में समवेदना खोजने ही लगे थे कि नंदेसरी ने बात बदल, महेसरी की बहबूदी की शुभचिन्तना की क्योंकि हममें से वही विकास के रास्ते पर चल सका है, हम में से––मैं और रजेसरी और महेसरी और नंदेसरी, जो सब नर नहीं, मादा नहीं, मनु के वंशज नहीं, रखेल हैं। नंदेसरी की आँखें डबडबा आई थीं।

मरुस्थल

जहाँ पर अपनी बेशरम आदत से लाचार चोखे और मँगरू इस वक्त बैठे हुए हैं वह एक अंधी गली में और भी अंधी कोठरी है। उस कोठरी में एक कुप्पी का टिमटिम प्रकाश है जो अभी हाल ही में पीली पुती हुई दीवार पर गिर कर विकृत हो रहा है। इस रोशनी की ज़रूरत सिर्फ शराब की मात्रा समझ लेने के लिए पड़ती है। वहाँ उस बेहद खुरदुरे फर्श पर कुछ टूटी कुरसियाँ पड़ी हुई हैं जिनकी टाँगें ऊँची-नीची हैं। कुछ अलमूनियम और चीनी के बर्तन, लाल-नीली खाली बोतलें, कुछ हड्डियाँ, एक काई-लगी सुराही, एकाध टूटी रकाबी वग़ैरः कुछ चीजें एक कोने में तितर-बितर छितरी पड़ी हैं। साथ ही उस कमरे में ऐसी एक सीलन की बदबू है जो नये आगन्तुक को पागल कर देती है, पर वही बदबू, कड़े पियक्कड़ों—जिनके रुखड़े मिट्टी में अटे बाल, चेहरे की नपुंसक भीषणता, खूँखार बेजान बुझी हुई आँखें, बोतलों

की संख्या, नीली उभरी नसों वाले हाथ, चुसे व्यक्तित्व इसके साक्षी हैं— की मस्ती में चार चाँद लगाती है, और वे उसे शराब की गंध का ही अंश मानते हुए सदियों से चले आते हैं।

चोखे और मँगरू ने दो अद्धे मँगा कर सामने रख लिये जिसमें ढाढ़स रहे, और चिखनी के लिए आध पाव, तेल की, काली करके भूनी हुई कलेजियाँ भी रख लीं......चोखे ने उस हरामखोर से कितना कहा कि एक गुर्दा भी रख दे, पर ससुरा न माना तो न माना! भगवान जल्दी ही पूछें!

कलवरिया का दढ़ियल मालिक देर का कुल्हड़ रख कर चला गया था। इस दम दोनों झगड़ रहे थे कि अधिक जली हुई कलेजियाँ कौन लेगा। चौकोरवाली चोखे लेगा कि तिकोनी?

वे दोनों जब अपना कुल्हड़ चढ़ा कर, अपने अधमरे सुरूर को चीर कर देखते थे तो उन्हें लगता था कि इस सारी मुफ़लिसी का कारण भगवान् है; और वहाँ बाँस की खुरदुरी कुर्सी पर बैठे हुए वे उसे, बिना किसी खास ज्ञान- अज्ञान के खूब पुख्ता तौर पर बुलन्द आवाज में जली-कटी सुनाते थे; और उस अँधेरी, सड़ी हुई बदबूदार कोठरी में एक अटपटा खोह आ बैठता था। वहाँ पर सृष्टि को बेध कर अनेकों गालियाँ उठती थीं, उठ कर उन कुज्जों में समा जाती थीं और बुल्लों की तरह फिर-फिर उठती थीं।

जब चोखे और मँगरू कलवरिया से निकले वे बेहद पी गये थे, इतना कि उनकी आँखें लाल अङ्गारा हो रही थीं। उनकी चमड़ी पर कालिख-सी पुती हुई थी और वे अपने में न थे। वे एक पैर आगे

बढ़ा कर दूसरा रख न पाते थे और लड़खड़ा जाते थे। वे मकान की भीतों से टक्कर तक खा जाते थे और उनका बदन छिल जाता था, और सारे सफर में वे एकाध बार अंशतः नाली में भी समा जाते थे। इसलिए उनकी गति बड़ी धीमी थी और पन्द्रह मिनट के कोठरी से निकले हुए वे अब तक सिर्फ उस कलेजी की दुकान तक आ पाये थे जिसका ज़िक्र पहले हो चुका है और जहाँ से उन्होंने इतने दिन उधार खाया था कि उसने कलेजी देना बिलकुल बन्द कर दिया था।

जब वे अपने-अपने घर पहुँचे दिया जलने का वक्त हो आया था और चोखे के यहाँ एक पैसे के मिट्टी के तेल के लिए तोबा-तिल्ला मचा हुआ था गोया बहुत बड़ा हादसा हो गया हो।

मा छः साल के बच्चे को मार-मार कर राह अगोरने को भेज रही थी—देख, तेरा मुआ बाप पलटा कि नहीं।

वह 'मुआ बाप' जब लौटा, उस पर संतों का-सा वैराग्य खेल रहा था।

उसने बग़ैर किसी तूल-तमाल के टेंट में से सारे पैसे निकाल कर पत्नी के हाथ में यों डाल दिये जैसे ठीकरे हों और अब तक हाथ में भारी हो रहे हों। उसने एक मचिया खींच ली और बैठ गया, विषएण।

पत्नी ने मुँह की ओर निहारा और ताड़ गई कि कुछ पैसे कुल्हड़ों में बिला चुके हैं, पर उसने मुँह न खोला और समझौते की थाती लेकर दूसरे कामों में जुट गई। चोखे वहीं मचिया पर बैठा रहा। उनके उस बेताल, बेसुर के चक्र में कोई रुकना-पलटना न था और वह चक्र अनवरत चल रहा था, एक ऐसे पथ पर जहाँ विषाद,

अवसाद, प्रसन्नता, उल्लास, रंग, नाटक कुछ भी नहीं, और जो खाई-खड्ड हैं भी उन्हें भी सपाट और समतल मानते हुए ही आगे बढ़ना हो सकता है।

उनकी उस ओछी गृहस्थी का भी एक व्यक्तित्व है।

एक फूहड़ मकान है जिसके प्राणी उससे भी अधिक फूहड़ हैं। उस मकान का फ़र्श अत्यधिक फुसफुसी मिट्टी का है। मकान पर एक फूस का छप्पर है, जो देखने की चीज़ ज्यादा है और काम की कम क्योंकि उसमें जो कुछ तिनके थे भी, उनका बड़ा अंश लोगों की चिलम सुलगाने में खेत रहा। जो ही आया एक मूठा निकाल ले गया।

एक कोने में एक खूब पेवने लगी हुई छतरी टिकाकर रखी है। उसके पास ही मोटर के टायर का टुकड़ा पड़ा है, जिसे बच्चा उठा लाया है। कमरे भर में कपड़े टाँगने की तीन रस्सियाँ बँधी हैं। कोई भी रस्सी पूरी नहीं है और किनारी, सुतली और बाध के मेल से बनी है। एक अलगनी से एक ढोलक टँग रही है जो इस वक्त ढीली पड़ी है क्योंकि छः साल से उसे बजाने की नौबत नहीं आई। उसी ढोलक पर एक मजीरे का जोड़ा रखा हुआ है। वहीं अलगनी पर चोखे का पाजामा रखा है जिसका आगा लाल चारख़ाने का है, पीछा नीली धारियों का और दोनों टाँगें मटमैली सुफेद हैं। वहीं चोखे की एक मैली-कुचैली टोपी रखी है। एक कोने में एक झाड़ू रखी है जिसकी बहुतेरी सींकें झड़ चुकी हैं। एक जगह धरन से साइकिल का एक विगलित ट्यूब लटक रहा है। कमरे के बीच छः साल के लड़के का खटोला है। उस खटोले पर इस वक्त खीरे बिखरे पड़े हैं, जो सूख गये

हैं। वहीं एक तीन पैसे वाली गेंद रखी है जिस पर अँग्रेजी का K लिपा-पुता है। वहीं एक, एक-पैसे वाली सारंगी है और एक बिगुल, जो अब लाख फूँकने पर भी नहीं बोलता।

माँ की गृहस्थी तीन वर्ग गज में विकीर्ण है। उसमें हल्दी, सोंठ, सेंधा नमक, सिल (जिसको खुदवाने की सख्त ज़रूरत महसूस की जा रही है), बट्टा सभी है। वहीं एक पीपल के पत्ते पर चूना और कुछ सड़ी, खदरी हुई सुपारियाँ रखी हुई हैं, जिन्हें तबियत ऊबने पर अधेड़ दम्पति खा लेते हैं। चोखे कहीं से बिसकुट का एक बड़ा डब्बा पा गया था। वह अब एक आले में रखा है। एक ताक़ पर एक लाल-नीली पेंसिल रखी है, जिससे दस साल के बड़े लड़के ने आस-पास ख़ूब खेंचा रखा है—बेसिर-पैर की हजारों रेखाएँ। पास ही एक तवा रखा है जिसके बीच छेद है और जो अब माँ की गृहस्थी से काला-पानी है। एक लकड़ी का मोटा लट्ठा रखा है। पास ही एक कुल्हाड़ी रखी है।

दोनों बच्चे आपस में लड़ रहे हैं और इस तरह ख़ाँव-ख़ाँव करते हैं जैसे बंदर के बच्चे हों! माँ ने हाँडी में पकाने को कुछ रख छोड़ा है और वह इन छोकरों की लड़ाई पर खीझ रही है। एक संग ही लड़कों को गुर्राकर चीख़ पड़ती है और फिर पति की ओर देखकर—कैसे हो? दो बच्चे भी नहीं सँभाल पाते? कैसे बैठे हैं जैसे बुद्ध भगवान् हों।

इस पर उसे एक विचार सूझता है और वह कहती है—हाँ नहीं तो! जैसे बुद्ध भगवान् हों। नहीं, नहीं, बुद्ध नहीं बुद्धू।

और उसने चोखे के मुख की ओर देखकर चाहा कि समझौते के तौर पर उसे हँसाकर हँस दे। पर वह ठिठक जाती है और चोखे के

मुँह का गिरा हुआ, रुक्ष भाव देखकर हँस नहीं पाती। घर में एक खा डालने वाली नहूसत फैली हुई है। चोखे की पत्नी उसका सुखद अन्त करने को उतना ही उत्सुक है जितना दोनों लड़के एक दूसरे को काटने को। पर चोखे की मुद्रा को देखते हुए वह पाती है कि ऐसा सम्भव नहीं है।

और इस सारे फैलाव और संकोच, संघर्ष, कोलाहल, अनैक्य के बीच, अनसुथरे फूहड़पन से बोझिल वातावरण में उसके पास कहने को कुछ भी नहीं है।

चोखे चुपचाप बैठा है, उसी मचिया पर। और कितने ही घण्टे यो ही बीत जाते हैं। बीत जाया करते हैं। बीतें न तो हों क्या!

पति-पत्नी

दौड़ती रेल में एक श्यामवर्ण पति-पत्नी अपने तीन बच्चों के साथ चले जा रहे हैं। रात का सफर है, तीसरा पहर। बच्चे सो चुके हैं। डिब्बे में निस्तब्धता है। केवल पति-पत्नी धीमे स्वर में कभी-कभी बात कर लेते हैं। पति मितभाषी है, कारण वह उधेड़ बुन वाला आदमी है और अपने में ही समाया रहता है। उमर है तीस साल। पति मित-भाषी है और पत्नी को अजब-सा लग रहा है। वह बहुत बोलने को आतुर है। पर उसकी आतुरता के लिए कहीं कोई बहाव न होने से वह खिन्न जान पड़ती है।

संयोग की बात, गाड़ी अभी पहुँची एक स्टेशन पर, जो देखने में बड़ा मालूम होता था, क्योंकि वहाँ पर थीं सूरज से होड़ करने वाली बिजली की बत्तियाँ। गाड़ी खड़ी होने के साथ एक घनी दाढ़ी-मूछोंवाला आदमी, जो देखने में ग़रीब और दग़ाबाज़ दोनों ही मालूम होता था,

डब्बे में सवार हुआ। लम्बा, छरहरा, पुष्ट स्नायुओंवाला जिस्म, गहरी धँसी हुई आँखें और स्याह रंग।

पत्नी ने उसे देखा और जैसे बिजली कौंध गई। बाहर झड़ी लगी हुई थी और यह आदमी भीगता हुआ डब्बे में दाख़िल हुआ था। वह जल्दी में अपना सामान इन्हीं दम्पति की बर्थ पर रखकर वहीं बैठ गया।

पत्नी के अन्दर तूफ़ान का एक दौर शुरू हुआ—उँहुक्, यह वो कैसे हो सकता है? हरगिज़ नहीं। उसके तो कभी दाढ़ी थी भी नहीं। दूसरे यहाँ, इस जगह, इस तरह—नहीं यह कभी नहीं हो सकता। पर कैसे कहें, चेहरा-मोहरा तो एकदम उसी-सा है, दाढ़ी से कहीं असलियत छिपती थोड़े ही है, और वह रहा बायें कानवाला बड़ा-सा मसा, उसकी ख़ास चीज़। इसे लेकर मैंने कितने दफ़ा चुटकी नहीं ली है! लेकिन आज इतनी विपरीत शक्ल में, ऐसे विपरीत स्थान में, घनी बारिश में यों अचानक मेल हो जायगा! कौन जाने उसी से मिलता कोई दूसरा हो, कोई मोहर तो लगी नहीं है! लेकिन आँखें तो धोखा खाती नहीं जान पड़तीं। अरे जाने भी दो—पर जाने कैसे दूँ? यों अचानक फिर मेल हो जायगा, यह तो कभी हमने न सोचा था, विश्वनाथ। उस वक्त भी नहीं जब तुम मुझसे आख़िरी बार मिलकर परदेश चले गये थे। आओ, परिचय तो लूँ ही।

यह सब घूम गया, पलक भाँजते। पति अब तक ऊँघ-ऊँघ कर गिरा जा रहा था। पत्नी यानी रेवती ने एक ओर पति से लेट जाने को कहा और दूसरी ओर मुख़ातिब हुई आगंतुक की ओर। यह पुरुष भी शायद कुछ देर से अपनी घनी भौंहों के बीच से इस नारी को निहार रहा था। चकित। स्तंभित। थकित। उच्छ्वसित।

रेवती ने आगन्तुक से झिझकते हुए पूछा--माफ़ कीजिएगा, आपका चेहरा...

आगंतुक ने उल्लसित होकर, फिर अपने ही उल्लास पर स्वयं झेंप कर संयत होकर कहा—हाँ, हाँ। ठीक तो। तुम रेव .....

रेवती ने सिर झुकाकर नौ बरस के अपने पुराने साथी को उत्तर दिया और कुछ काल तक विभ्रम में चुप रही। फिर कहा—मिले खूब। तुम यहाँ ?

जब रेवती का विश्वनाथ कह रहा था 'न पूछो' रेवती झक-झोरकर जगा रही थी पति को। परिचय कराने के लिए अपने पुराने साथी विश्वनाथ से। पति जागा, आँख मलते हुए, बुरी तरह निंदासा, बदन तोड़ता बाल सँभालता हुआ। परिचय : पति विश्वनाथ से मिलकर बहुत .खुश हुआ है लेकिन विश्वनाथ पति से मिलकर गड़बड़ी में पड़ गया है। नहीं जानता क्या कहे। वह रेवती का पति जो है। रेवती का...उस रेवती का...लेकिन वह कोई बेहूदा बात अभी नहीं सोचना चाहता। अभी तो वह आज़ाद होकर बात करेगा, मुलाकातें बात करने के लिए ही होती हैं। . लेकिन यह भी खूब ही है कि रेवती के पति को नींद चैन नहीं लेने देती। चलो दायित्व घटा। उसी वक़्त पति ने कहा रेवती से—'मैं तो सोता हूँ, जाग नहीं पाता।' फिर मुस्कराते हुए, विश्वनाथ से—'मुझे आप माफ़ करेंगे।' विश्वनाथ को न जाने क्यों, उसके सोने से तनाव कम होने की आशा बँधती है और वह बड़ी आजिजी से कह जाता है—'नहीं नहीं। ठीक तो है। इसमें कौन-सी बात है। ठीक तो है। आप सोये न होंगे। फिर सफ़र की थकान...'

रेवती का पति सो गया। रेवती उठ बैठी। विश्वनाथ भी कान थोड़ा और पास ले आया। अब वे और भी निश्चिन्त होकर बोल

सकेंगे, बात कर सकेंगे। दो बहुत पुराने दोस्त मिले हैं आज। सो भी अचानक। बाँध अगर ढह चले, तो अचरज क्या। लेकिन रेवती का पति सो ही रहा है, सो रहा है...।

बाहर उसी तरह पानी बरस रहा है, उसी तरह अँधेरा है, उसी तरह बिजली काँपती है। दोनों साथियों के पास अगणित सवाल पूछने को हैं। कितने सवाल इन नौ सालों में कुकुरमुत्तों की तरह नहीं जमा हो गये हैं! विश्वनाथ के पास कम, रेवती के पास ज्यादा। विश्वनाथ तो सवाल पूछने में नहीं रहता। वक्त की बरबादी। वह तो आगे बढ़ जाता है। रेवती अलबत्ता पीछे फिर-फिरकर झाँकती है। अंधेरे में आँख गड़ाती है। रोशनी न होने से खीझती है। लेकिन विश्वनाथ है तो रोशनी देने के लिए। इन चार घंटों में जितनी रोशनी चाहो, वह मुक्त होकर दे सकता है। फिर तो वह अपने स्टेशन पर उतर जायगा ही। अब जब मौका होने पर वह पीछे फिर कर सब कुछ देख लेना चाहती है, तो पाती है देख सिर्फ़ एक धुंधला बिन्दु—नौ बरस पहले की एक रात का तीसरा पहर, बारिश, बिजली, हवा तूफान। गाँव के तालाब के किनारे दो व्यक्ति। इससे आगे रेवती चेष्टा करके भी नहीं देख पाती। और यह विश्वनाथ तो आज और उलझन ही पैदा कर रहा है। अचकचाहट। न जाने कैसा है यह?

साफ़ बात यह है कि दोनों को फ़ुर्सत नहीं है। दोनों इन अमूल्य क्षणों में भी अपनी-अपनी तसवीरों में उलझे हुए हैं, बेतरह, सिलसिला खत्म ही नहीं होता।

विश्वनाथ सामने की बर्थ की इस नारी को एक दशाब्दि पीछे ढकेल कर देखना चाहता है।

रेवती : एक युवती। निखरा हुआ यौवन। झूलते हुए बाल।

ताज़ा मुखड़ा। तालाब से नहा कर लौटते हुए विश्वनाथ से उसकी अकसर की मुठभेड़।

रेवती की माँ का रोना। मजबूरी। रुसवाई। विश्वनाथ भी भला इसे क्या कर सकता है? बात ज्यादा आगे बढ़ गई है। सभी उनके बारे में जानते हैं। कोई छिपाना नहीं हो सकता। रात को उनकी मिलने की जगहों में अब पहरा बिठाला रहता है। रेवती घास-फूस की तरह बढ़ रही है। उसकी शादी होना जरूरी है। पर विश्वनाथ से नहीं। यद्यपि बात बहुत आगे बढ़ गई है। न रेवती, न विश्वनाथ ही मुँह दिखाने योग्य हैं। पर विश्वनाथ तो बेहया है और है पुरुष। इतनी दलील बहुत है। पर रेवती—सारी परीशानी तो उस पर है। उसने गलती की। भोगे। भोग तो रही ही है। पर विश्वनाथ भी एकदम अछूता नहीं रह सकता। उसे भी नौकरी छोड़नी होगी। छोड़नी होती है। विश्वनाथ गाँव छोड़ कर आज रात चला जायगा। पन्द्रह मील पर स्टेशन है। करीब करीब पैदल ही जाना है। रेवती से मिलेगा। मिला। कुछ ज़्यादा कहना-सुनना नहीं हो सका था। चुप्पी ही चुप्पी में दोनों बहुत कह जाते हैं। नारी की मजबूरी।

विश्वनाथ चला गया। उस रात। अगले सगुन में योग्य वर से रेवती की शादी हो जायगी। घास उगते देर नहीं लगती। गड़े मुर्दे उखड़ेंगे कैसे? उखड़ कैसे सकते हैं? हमेशा मुर्दे थोड़े ही बने रहेंगे। हो जायेंगे राख और पत्थर। तब? सब ठीक है। रेवती की माँ का रोना? उसकी बात दूसरी है।......

एक बरस और चला गया है। रेवती की शादी हो गई है। लेकिन इस बिन्दु पर रेवती दर्द अनुभव कर रही है। उसकी मां बिदाई की रात मर जो गई थी। क्योंकि उसके जीने की सार्थकता अब नहीं रही। क्योंकि

वह रेवती के लिए अब संपूर्ण इन्तजाम कर चुकी है। जीना क्योंकि अनर्गल है। इसलिए। पर रेवती दायित्व इतने सहज रूप में भुला नहीं पा रही है। न अभी और न कभी। इसलिए दर्द। नुकीला। पैना।

रेवती की शादी हो गई। योग्य वर से। उचित रूप में। और चाहिए ही क्या? लेकिन वह पिछले प्रेम प्रसंग के बारे में कुछ नहीं जानता। सो भी अच्छा ही है। जानने से शोक होता है। और वह हो भी तो गया पुराना किस्सा।

खिड़की के पार के दौड़ते हुए अँधेरे से रेवती की आँख उठकर पहुँचती है अपने पति पर, जो हाथ का तकिया लगाये सो रहा है। निर्द्वन्द्व। बेखबर। उसका पति। फिर विश्वनाथ पर, जो अजीब सूरत बनाये उस पल सोच रहा है—रेवती? आज विवाहित। वह देखो उसका पति। वह देखो उसके बच्चे, आज यों। जीवन-मीनार की सीढ़ियों को वह अकेला ही तय करने का आदी हो गया है। किसी को वह यह हक देने को तैयार नहीं है। यह सफर करने में जो यकायक मिल गई है सो ठीक ही है। और बस। फिर वह सोच रहा है कि रेवती का सौंदर्य अब ढल रहा है। आकर्षण वह नहीं पाता और उसकी ओर बहुत गौर से निहारता है। रेवती विकल बैठी है। एक पहेली, अपने तईं। न जाने क्यों? वह अपने मन से परीशान है। मिर्च का तीतापन उसे अपनी ओर खींचता है।

रेवती आज अपने तीन बच्चों और ढले हुए सौंदर्य के बावजूद दस साल लाँघकर वहाँ पहुँच जाना चाहती है जहाँ उसमें मार्दव है और यह विश्वनाथ उसके आकर्षण की डोर में जकड़ा हुआ है। उसकी शादी अभी नहीं हुई है। और यह है उसका गाँव।

उसकी साँस तेज चलने लगती है।

तभी विश्वनाथ कहता है—तुम तो बहुत बदल गईं, रेवती!

रेवती क्या कहे। उसके पास कहने को क्या है? जो है सो विश्वनाथ तो देख ही रहा है। फिर भी—और तुम? यह दाढ़ी की उलझन, पेशानी की यह शिकन, आँखों की यह कालिख?

विश्वनाथ दोनों फरीकों की ओर से जवाब दे डालता है—यह तो उम्र है। वक्त। भट्ठी। शिद्दत। सुलगन।

फिर चुप्पी। फिर बेकली। और फिर रेवती का पति सो रहा है। अजीब बात है। मानों उसे सोना छोड़ दूसरा काम नहीं है। रेवती अपने से कहती है, उसका यह सोना अच्छी बात नहीं है, कितनी बेढंगी चीज़! लेकिन वह तो आखिर सो ही रहा है। गोया इस अजीब ढंग से वह रेवती से कह रहा है--झिझक तज। मैं तो सोऊँगा ही।

यहीं बात खत्म थोड़े ही हो जाती है। और बहुतेरी बातें होती हैं जिनमें से कुछ विश्वनाथ की दाढ़ी में उलझ कर रह जाती हैं और कुछ रेवती समझ सकने की कूवत अभी नहीं रखती। और विश्वनाथ तो आगे ही देखता है। देखता है—पति सो रहा है, पत्नी आकुल है, और निस्तब्धता पहरा दे रही है। वह और आगे देखेगा। रेवती के मुखड़े पर चढ़ती हुई लाली। उसकी बुझती-सुलगती आँखें जिनमें वह कुछ पढ़ता है। पर उसकी आँख कमजोर है। उतनी दूर से वह पढ़ नहीं पाता......नज़दीक से साफ दिखेगा।

और जैसे रेवती अपने होंठ निछावर करती है, उसे लगता है कि उस क्षेत्र में जैसे एक मकड़ा अपने पंजे सिकोड़ कर एक गुदगुदी भरी चुभन के साथ डोल रहा है। रेवती का मन कुछ और होता है, न जाने कैसा......पर मुसकराये बिना उससे रहा नहीं जाता।

पति-पत्नी

रेवती अपने बिस्तर पर पड़ी सोच रही है।

'कल की वह शाम, आज की यह रात! उंह! वैषम्य ही नियम है! जाने भी दो—चुम्बन को मान क्यों न लूँ? पर.....?'

वह सारा इतिहास सकारना चाहती है, उद्वेग-ज्वार है। पर वह संभवतः मुस्कराने को छोड़ दूसरा कुछ नहीं कर सकती। वह नारी है। मकड़ा चाहे तो चलता रहे।

जब वह मुस्कराती है, समझदार पति किताबों के मुताबिक इसे आसक्ति का चिह्न मानता है और अपने पौरुष पर निहाल हो जाता है। वह दूसरा क्या करे। रात भीग चुकी है। चुप रेवती गौर करके देखती है। और जिस सारी सहूलियत से उसने रेंगते हुए उन मकड़ों को बखूबी झेल लिया है, उसे याद करके पसीने-पसीने हो जाती है। सर का खून माथे में उतर आता है। वह हाँफती है। रात और भीग जाती है।

———

फीका कागज़

१

रघुनन्दन ने बाहर चौखट पर से ही पुकारा--भाई सुरेश, अब तक नहीं उठे क्या ?

सुरेश ने अन्दर से ही जवाब दिया—अन्दर चले आओ न, बाहर से ही क्यों बाँग देते फिर रहे हो ?

रघुनंदन ने अन्दर जाते हुए मीठी चुटकी ली—इतना सोना न तो तुम्हारी आदत में दाखिल है और न हक में। यह नई बात क्या ?.. अंदाज़ तो यही लगता है कि उनकी पोटली में बँधा-बँधा, दूसरे हीरे-जवाहरात के संग, शायद यह निराला हीरा भी आ गया...क्यों है न ?

सुरेश को बगलें झाँकते देख जवाब दिया रजनी ने—रघुबाबू, अगर आपकी राय हो तो ये सारे बेशकीमत हीरे-जवाहरात आप की खूँट में बाँध दिये जायँ !

रघुनंदन अब मुँह चुराये तो कैसे, लेकिन कुछ तो कहना ही है—नहीं भाभी, मेरी इस टाट जैसी खादी में भला ये क्या फबेंगे, तुम्हीं सोचो न ? मैं अपना दरिद्र ही भला; कौन उसका भार सँभाले ? उस काम के लिए तो मैंने सुरेश को ही चुना है। इतना ही क्यों, जब वह मुझे बीमार ही छोड़ कर, हीरों की यह पोटली गले लटकाने चला गया था, क्यों सुरेश, तब भी तो उसे मेरी सहायता की चाहना नहीं हुई, तो भला आज ही ऐसा क्यों हो ?

बात यों है कि रघुनंदन और सुरेश दोनों पड़ोसी हैं। दीवारें दोनों मकानों की मिली हुई हैं। सुरेश डी० पी० आई० के दफ्तर में नौकर है और रघुनन्दन एक वर्क-शाप में। दोनों पहले एक संग ही पढ़े थे। रघुनन्दन दसवीं जमात के बाद कारखाने में काम करने चला गया, लेकिन सुरेश सिलसिला बाँधे सीधा ग्रेजुएट होकर रहा और उसके बाद नौकरी में दाखिल हुआ।

सब से बड़ी दिल्लगी तो यह रही कि अभी-अभी, चार महीने भी पूरे नहीं हुए, सुरेश ने रजनी से शादी की है। रघुनन्दन ने सुरेश की शादी में भाग लिया, यह शत प्रतिशत ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ तक फोटो देखने का संबंध है, रघुनन्दन का हाथ, सुरेश के निकट-तम होने के नाते, उसमें सब से ज्यादा रहा है। सुरेश के साथ अकेले में उसने अपनी होने वाली भाभी की आँखों, गोल, मक्खन-सी कलाइयों, कुन्दन-से दमकते रंग और बिल्ली के बच्चों जैसे मुँह की बड़ी प्रशंसा की है (सुरेश को बुरा जरूर लगा था कि उसकी भावी पत्नी के मुँह की तुलना बिल्ली के बच्चों के मुँह से की जाय !) और उसे ऐसी रति-सी बहू पाने के उपलक्ष्य में बधाइयाँ भी दी थीं, लेकिन जब रति को लाने के लिए बनारस जाने का वक्त आया, तब बेचारा बीमार पड़ गया,

और फिर सुरेश को, सब के होने के बावजूद, कैसी अकेलेपन की कुरेदन हुई, यह तो सुरेश ही कह सकता है।

२

रघुनन्दन सुरेश का पुराना सहपाठी भी है, अन्तरंग भी।

रघुनन्दन किसी से कुछ छिपाता नहीं और मन में मैल रखना भी नहीं जानता। इस कारण वह सब का बहुत प्रिय है—रजनी का भी। जिस दिन रजनी ने घर में पैर रखा, पहला सवाल जो उसने पूछा, यह था—रघुनन्दन बाबू का जी कैसा है, यह पुछवा लेते तो बड़ा अच्छा होता।

उसे देखने के पहले ही, रजनी रघुनन्दन को मानो पहचानती थी और रजनी के आने के तीसरे दिन जब रघुनन्दन ने पूर्ण स्वस्थ होकर चौखट के बाहर ही से पुकार कर कहा—'भाभी नमस्ते' तो रजनी को लगा कि यह आदमी युग-युग से मानो उसका परिचित है, और सदा से ऐसा ही है, चित्र के एकदम अनुरूप, सरल, स्नेही, सौम्य, उदार, अपना।

और उसी पल से रजनी और रघुनन्दन की मैत्री का सूत्रपात हुआ। रघुनन्दन ने रजनी में एक अबोध बालिका को पाया, जिसे वह निश्शंक होकर मैत्री के लिए अपना सकता है।

रघुनन्दन हुनरयाफ्ता मज़दूर है और है नगर की मज़दूर सभा का एक प्रमुख कार्यकर्ता। लेकिन फिर भी वह सुरेश की अपेक्षा कम व्यस्त रहता है। सुरेश तो ऐसा कुछ चक्की पीसने के काम में लगा है कि आँख उठाने तक की फ़ुरसत नहीं मिलती, सुबह ६ बजे का गया-गया, कहीं रात के ६ बजे लौट पाता है। इसीलिए ऐसा अंदेशा था कि रजनी एक मसोसने वाला अकेलापन महसूस

करेगी, और विशेषकर अभी-अभी जब उसका कोई परिचित भी नहीं है। लेकिन कुछ तो पुस्तकें और उससे ज्यादा रघुनन्दन का सुरेश के आदेशानुसार, दोपहर में एक घण्टा आकर उसके पास बैठ रहना, उसकी तबीअत को बहला देता था।

रजनी उसे श्रद्धा के साथ देखती और उसकी उपस्थिति में अपने को धन्य समझती; रघुनन्दन एक अस्पष्ट गुनगुदी के साथ उसे देखता, वह गुदगुदी जिसके अंतस् में कलुष नहीं होता, बल्कि जो दो तरुण हृदयों के लिए बहुत स्वाभाविक है। और उसकी कोर भी पवित्र ही कहनी चाहिए, क्योंकि अपनाने या पा लेने की उस अस्पष्ट लालसा या आकुलता को ज़मीन बनाकर तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक उसकी रूपरेखा निश्चित न हो जाय।

३

अकेला आदमी रघुनन्दन। एक दिन ऐसा हुआ कि उसकी महराजिन न आई। कोई शाम सात का वक्त था। सुरेश अभी दफ़्तर से न लौटा था। रजनी की तबीअत अकेले ऊब-सी रही थी। उसने सोचा, चलो देखें रघुनन्दन बाबू आये कि नहीं। कुछ मन ही बहलेगा, कैसा खरा आदमी है।

रजनी ने अन्दर जो पैर रखा तो रघुनन्दन चिल्ला पड़ा—अरे कौन घर में घुसा आता है? कोई भठियारखाना बना रखा है कि बिना पूछे जाँचे......

कारण, रजनी खम्भे की ओट में थी और रघुनन्दन धुएँ में घुटा हुआ चूल्हा फूँक रहा था। रजनी कुछ क्षण चुप रही। फिर धीमे-धीमे प्रश्न के दोनों भागों का उसने उत्तर दिया—चोर; भठियारखाना तो नहीं लेकिन अपनी माँद समझकर आई हूँ।

रघुनन्दन ने अचकचाकर कहा—अरे तुम ? रजनी ? लेकिन भाई माफ़ करना, यह चोर की माँद तो नहीं ! यह तो रघुनन्दन बाबू की एकाकी गृहस्थी है ।

रजनी ने कहा—हूँ... ...तभी तो चूल्हे का इस तरह फूँकना ? क्या खूब है यह गृहस्थी, क्यों रघु बाबू ?

इधर रघुनन्दन कुछ अपने सवाल पर और कुछ यों चूल्हा फूँकते देखे जाने पर, लाल हो आया । मालूम नहीं, रजनी ने उसके इस भाव को देखा भी या नहीं ; लेकिन वह बोली— रघु बाबू, भला इतना परेशान क्यों होते हो । लो अगर ऐसा ही है, तो मैं बाहर चली जाती हूँ । लाज लगती है, क्यों ?

इस पर तो रघुनन्दन ने और दूना परेशान होकर कहा—नहीं, नहीं । मेरा मतलब यह हरगिज न था । तुम्हें धुआँ लगेगा, इससे कहता हूँ । खड़ी न रहो, बैठ जाओ ।

रजनी ने फिर पूछा—और आप यह कर क्या रहे हैं ? महराजिन नहीं आई क्या ?

रघुनन्दन ने कहा—नहीं, आज वह बीमार... ...

रजनी ने बीच में ही टोंककर कहा—तो मैं क्या मर गई थी ?

रघुनन्दन—यह क्या कहती हो, रजनी !

रजनी—कहती क्या हूँ ? ठीक ही तो है । देखो, शीशे में ज़रा अपना मुँह तो देखो । यह भला तुम लोगों का काम है । मैं तो यह अच्छी तरह जानती हूँ कि तुम बस हड़ताल भर करवा सकते हो !

सो इसके उत्तर में किसने क्या कहा, यह तो लिखने वाला नहीं जानता, लेकिन कुछ मिनटों बाद, रघुनन्दन चूल्हा ठण्डा करके रजनी

के पीछे-पीछे चला जा रहा था और साथ ही बुदबुदाता जाता था —फ़िजूल तङ्ग कर रही हो, रजनी।

स्नेह की उस रेशमी फाँस से वह छूट भागना भी चाहता था, और साथ ही उसमें पड़े रहना भी......आदमी का पागलपन।

रघुनन्दन का एकाकीपन, रजनी को, सहज समवेदना के कारण, अपनी ओर बुलाता। उसका मातृत्व इस निचाट सूने व्यक्ति को अपने वत्सल क्रोड में छुपा लेने का आग्रह करता। क्योंकि उसका कोई नहीं है, वह उसकी हो जाना और उसे अपना बना लेना चाहती है। उसके भीतर आतुरता की कुरेदन-सी होती है। उसे बरबस ही खीभ होती है कि रघुनन्दन उसे अपना मानकर, उसकी सेवाओं को क्यों कबूल नहीं करता, उसे चेरी बनने का अवसर क्यों नहीं देता, उसके सहारे टेक क्यो नहीं लगाता? वह चाहती है कि रघुनन्दन उसे आदेश करे, अपनेपन का दबाव डाले। ऐसा निर्लिप्त-सा मानव, नाते-रिश्तों के प्रति इतना जड़ और निष्क्रिय रघुनन्दन उसे क्लेश पहुँचाता है......उसके नैसर्गिक स्नेह को ठेस पहुँचती है.......वह इसे निर्ममता तक पुकार उठना चाहती है......

जाने चाहे अनजाने उनके अपनेपन की नींव दृढ़ से दृढ़तर हो रही थी।

यों तो रघुनन्दन अपने वर्क-शाप और अपनी मज़दूर-सभा में व्यस्त रहता, लेकिन रजनी, अबोध चपलतावश उसे आकर झाँक जाने का मौका ढूँढ़ ही लेती।

फिर गुलाबी जाड़े आये, जिनमें एक सिहरन और एक ख़ुनकी थी। लेकिन इससे भी ज़्यादा, डूब जाने का मौका तो रजनी और

रघुनन्दन और सुरेश को तब मिला, जब सरदी कुछ घनी हुई और अँगीठियाँ आईं। दिन भर के थके-माँदे सुरेश और रघुनन्दन, साँझ के गहरी हो जाने पर एक साथ रजनी के पास लौटते—उसी प्रकार जैसे दो दिशाओं से बहती आती सरिताएँ मुहाने पर एक हो जाती हैं। कमरे में, आरामदेह गरमी में अँगीठी तापते हुए जाड़े की लम्बी घड़ियाँ वे बातचीत में गुजार देते। रघुनन्दन अपने भाई-बन्दों, मजदूरों की तकलीफों और मुसीबतों का चित्र दर्द के साथ खींचता। सुरेश और रजनी दोनों ही रघुनन्दन को श्रद्धा से देखते। फिर एक समय ऐसा भी आया कि जब ऐसा लगा कि रघुनन्दन एक ज्वार का नाम है, जो सबको संग समेटे लिये जा रहा है और उसमें डूबते-उतराते व्यक्ति, उसके भाटे की कामना न करके, उसी तरह उसमें समाते और खोते हुए चले जाना चाहते हों, लेकिन रघुनन्दन को इसकी परवाह नहीं थी कि कौन उसे कैसे देखता है। वह एक लगन अपनी राह चला जा रहा था और उसकी लगन सबको अपनी ओर खींच रही थी। रजनी को खासकर ज्वार के थपेड़े सुखद थे और उसकी महानता का सुरूर पति-पत्नी दोनों पर एक सा था। लेकिन बात यह बेखबरी की थी।

उसके उत्पत्ति, विकास और विस्फोट से अनभिज्ञ रजनी के अन्दर एक नैसर्गिक भाव लहरें मारने लगा। राह अँधेरी थी, लेकिन प्रकाश मिलेगा, ऐसा विश्वास था।

दिन बीतते रहे, लेकिन थकान के साथ नहीं जैसी कि उनकी आदत है, बल्कि एक शरबती उल्लास के साथ, जिसमें रल-मिल जाने का भाव अँगड़ाई ले रहा था। किन्तु खबर इसकी न तो सुरेश को थी, न रघुनन्दन को और न रजनी को।

४

रजनी जब बनारस मैके गई तो उसकी गोद में एक तीन महीने का बच्चा था। आज उसे वहाँ गये भी करीब छः-सात महीने हो गये। सुरेश को अकेले घर में परेशानी होती है और उसकी कामना है कि रजनी को बुला लिया जाय। रघुनन्दन की भी सलाह ऐसी ही है क्योंकि उसे अलग, सूना घर काटे खाता है और रजनी उसके जीवन का कैसा अंश हो गई है, इसका अंदाज़ा उसे आजकल हो रहा है।

लेकिन रजनी को लाने में परेशानी है, सुरेश बीमार है। खैर कोई बात नहीं, रघुनन्दन जाकर भाभी को लिवा लाने को तैयार है। इससे अच्छी और कौन-सी बात हो सकती है। सुरेश अपने श्वसुर को तार दिये दे रहा है कि वह खुद किसी कारण से आ सकने में असमर्थ है। वह अपने भाई से भी प्यारे मित्र को भेज रहा है और वे रजनी को उसके साथ कर दें। रघुनन्दन जाकर रजनी को लिवाता लायगा, घर का सूनापन कटेगा।

रजनी के यहाँ रघुनन्दन लोगों का बड़ा प्रिय अतिथि रहा—जमाई का अन्तरंग था ही, ऊपर से निजी व्यक्तित्व। अब रघुनन्दन सब को लेकर परसों लखनऊ जा रहा है।

लेकिन जाने के पहले, रजनी को सारनाथ देखने की इच्छा है। कौन कह सकता है फिर मौका मिले, न मिले। अरे कह तो सब यह सकते हैं कि इतनी जल्द ईश्वर का कहर नहीं गिरा पड़ रहा है और रजनी को सारनाथ देखने का मौका मिलेगा और हजार बार मिलेगा। लेकिन रजनी कहती है, वह जायेगी ही। शायद कोई रोकथाम मुमकिन नहीं है, बेचारा रघुनन्दन पसोपेश में पड़ा है। आखिरकार वह

बारिश आ जाने के वास्तविक और सच्चे बहाने की ओट में छुप जाना चाहता है। रघुनन्दन रजनी से कहता है—देखती नहीं, कितनी सख्त बरसात शुरू हो गई है। एक दिन में शहर पानी में डूब जाता है। इसमें आखिर जिद की कौन-सी बात है ? कौन सा ऐसा तीर्थ छूटा जा रहा है, जिसके बिना तुम्हें मुक्ति नहीं ? इस पर रजनी ने तिनककर कहा, तुम भी इन लोगों-सी ही कहने लगे ? बेचारा रघुनन्दन दो नावों में पैर दिये खड़ा है, और जानता नहीं, किस नाव में आकर दूसरी को छोड़ दे। वह आख़िरी बार कोशिश करता है—रजनी बचपन न करो। मुझे तुम्हें ले जाने में इनकार नहीं है......। इस पर रजनी 'तो फिर चलते क्यों नहीं ?' कहकर रघुनन्दन को टोंकना चाहती है, लेकिन वह अपना वाक्य पूरा करता है—लेकिन सवाल इसी बारिश का है। रजनी ने कहा कि ये सब फिजूल बातें हैं, किसी का ले जाने का मन्शा न हो, तो मैं भी ऐसे बहानों का अम्बार लगा सकती हूँ। आसमान क्या आज ही के दिन फटा पड़ रहा है। कैसा साफ़, नीला-सा है। क्यों, नहीं है ? इस पर रघुनन्दन क्या कहे, आसमान साफ़ है, इससे किसे इनकार है भाई, लेकिन ऐसे धोखेबाज़ मौसम की कौन चलावे। और जो तुम आसमान फटे पड़ने की बात कहती हो, सो उसका क्षण कोई भी नहीं बता सकता; आसमान नहीं ही फट पड़ेगा, इस विश्वास की भित्ति इतनी दृढ़ नहीं है जितनी तुम समझे हुए हो।

लेकिन चाहे बारिश हो, आसमान हा क्यों न फट पड़े, रजनी ज़ायेगी। ज़िद सरासर रजनी की है। रघुनन्दन लाचार है। यों मारे-मारे फिरने में उसका कोई कसूर नहीं है।

तो रज़नी और रघुनन्दन सारनाथ गये और जैसा कि इरादा था, वे

शाम तक घूमा किये—रजनी के बच्चे को उसकी नानी ने मोहवश अपने पास रख लिया था—उन्होंने सारी प्रमुख जगहें देखीं, और एक जगह अपनी याद भी अङ्कित कर दी।

पहले गोधूलि ने छापा मारा, फिर संध्या ने। लेकिन जैसे ही इन्होंने घर चलने की सोची, पलक मींचते-मींचते भर में, काले-काले, कालिख से भी काले बादलों ने आसमान को छिपा लिया। लगा, आसमान सचमुच ही फट पड़ेगा, और रघुनन्दन ने कहा भी था कि ऐसे धोखेबाज मौसम की कौन चलावे।

कहीं आश्रय लेने की ग़रज़ से अतिथि गृह की ओर बढ़े और उन्होंने मकान की देहलीज लाँघी ही थी कि एक कान के पर्दे फाड़ देने वाली गड़गड़ाहट के साथ पानी मोटी-मोटी धारों में गिरने लगा। लगा, प्रलय आज ही हो जायगा और महाकाल का नृत्य भी आज ही होगा। बिजली गरजती हुई, फुफकारती हुई आसमान में लपक रही थी और उसके आवेश को देखकर न जाने कैसा लगता था। जमीन दहल उठती थी, साथ ही बेचारे आदमी का दिल अलग दहल उठता था। बादल अलग गरज रहे थे। जमीन पर अँधेरा, आसमान में अँधेरा। सब जगह मौन छाया हुआ था। दिशाएँ साँय-साँय कर रही थीं। सब कुछ निश्चल और निस्तब्ध था, मानो प्रकृति दहशत में काँप रही हो।

ये दो मतवाले मूर्ख इस अतिथि गृह में ईश्वर-ईश्वर कर रहे थे। रजनी बिजली चमकने से काँप तक उठती और रघुनन्दन को ढाढ़स बँधानी पड़ती।

पानी थमने की प्रतीक्षा करते करते आठ बजा, नौ बजा। पानी बदस्तूर गिर रहा था।

रघुनन्दन ने रजनी में जान डालने की कोशिश की—अब ?

रजनी पहले तो चुप रही फिर अस्फुट स्वर में बोली—उसमें कहना सुनना क्या है ? पानी गिर रहा है तो गिरेगा ही और हम भी उसे गिरने ही दें।

रघुनन्दन—तो फिर मैं ही कब यह कहता हूँ कि तुम एक चाँदनी टाँगकर पानी रोक दो ? वह तो गिरेगा ही क्योंकि हमारे बस का नहीं है। लेकिन हमारा इन्तजाम कैसे होगा ?

रजनी—अब तो आफत में फँस ही गये। जैसे कुछ इन्तजाम होना होगा, होगा। लेकिन अच्छा यही है कि इस परेशानी में मेरा एक साथी भी है।

रघुनन्दन—अरे यह सब जाने भी दो। इन्तजाम अपने आप तो होने से रहा, करना तो हमीं को होगा। दूसरे, चाहे तुम मानो या न मानो फँसीं तो तुम इस आफत में अपने ही कर्मों ?

रजनी ने मानो रोते हुए कहा—जो चाहे सो कह सकते हो। लेकिन तुम्हारे साथ हूँ इसी लिए भरोसा करती हूँ कि जो गाज गिर पड़ी है उसे...

रघुनन्दन ने वाक्य पूरा किया—झेल सकूँगी, यही न ? लेकिन अगर वह हम दोनों की शक्ति के बाहर की साबित हुई तो ?

रजनी ने भोलेपन से कहा—तो दोनों संग डूब जायँगे, यही कहना चाहते हो न ?

रघुनंदन—मैं यह तो नहीं कहना चाहता, लेकिन यह ज़रूर कहना चाहता हूँ कि तुम हो बच्ची और तुम्हारी ज़िद तुम से उम्र में बहुत बड़ी है।

यह कहकर रघुनन्दन मुक्त रूप में हँसा और बाहर की बिजली भी

थोड़ी देर को शर्मा गई। रजनी भी मुस्कराई और दोनों हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे—प्रतीक्षा में। दस बजा।

पानी थमने का तो नाम ही नहीं लेता—रघुनंदन ने कहा।

रजनी ने कहा—मालूम नहीं कब का बदला देवों ने हम से निकालने की सोची है। ऐसा बनवास ! सोने-बैठने का ठिकाना नहीं, न एक कम्बल, न कुछ। ठंडक अलग हड्डियों में घर बनाने को आतुर है।

और जब बारह बजे तब भी बाहर जाँघ तक पानी था और अतिथि गृह के दालान तक में पानी लहरें मार रहा था। बिजली उतने ही ज़ोर से कौंध रही थी, और उसका किसी भी पल गिर जाना कोई आश्चर्य न था।

रघुनंदन ने कहा—अब तो यहीं सोना होगा।

रजनी—चारा ही क्या है ? सो लेंगे।

रघुनंदन—तो फिर एकाध कंबल-वंबल की ज़रूरत कम से कम तुमको तो होगी ही।

और वह उस दूसरे आदमी से इस विषय में पूछताछ करने चला, जो उसी कमरे के एक कोने में न मालूम कब आकर लेट गया था।

रजनी एक फटी-सी दरी नीचे बिछा, कंबल ओढ़, आँचल मुँह पर डाल और सर के नीचे हाथ देकर सो जायगी। और रघुनंदन अलग निचाट फ़र्श पर सो जायगा। रजनी सच ही कहती है, क्या चारा है ?

...रघुनन्दन के पैर अँधेरे में डगमगाये, सँभले, फिर डगमगाये, मतिभ्रम हुआ, फिर मस्तिष्क नील आकाश की तरह स्वच्छ हो गया... फिर तुमुल संघर्ष हुआ...

*   *   *

स्टेशन जाने के थोड़ी देर पहले अस्तव्यस्त-सा रघुनंदन रजनी से एक ज़रूरी काम का बहाना करके बाहर चला गया।

जब रजनी ने अपना टँगा हुआ ऊनी ब्लाउज़ सर्दी की वजह से पहनने को उठाया तो उसमें एक सफेद काग़ज़ रखा मिला, जिसमें लिखा था—

'रजनी,

मैं जा रहा हूँ। कहाँ? सो बहुत निश्चित तो नहीं, परंतु शायद, बंबई। काम है। मुमकिन है, तुम से फिर मुलाकात भी न हो। सब की सब से मुलाकात चिरकाल तक के लिए तो नहीं होती? तुम न मालूम किस चोर दरवाज़े से मेरे जीवन में अनजाने ही आ गईं। तुम्हारे इस आगमन को कभी सूर्य-किरण-सा शांतिप्रद कहने को जी करता है और कभी भीषण उल्कापात-सा, संशयों और विनाश से भरा-पुरा, काँपता हुआ! यदि तुम पूछो भी तो शायद मैं न कह सकूँगा कि मेरा मन इस समय क्या कहने को है। हम मिले, यह मेरा सौभाग्य था और आज मैं जा रहा हूँ यह भी केवल मेरा दुर्भाग्य होना चाहिए था, किंतु खेद मुझे यह है कि वह भाग्यरेखा तुम्हें भी भूल से छू गई है। न मालूम किस घड़ी में हम मिले थे और एक आकर्षण से एकदम पास आ गये थे। हमारी उस मैत्री का उपसंहार इस प्रकार होगा, यह तो मैं सोच भी न पाया था, रजनी। मैंने भी अपने को समझने में धोखा खाया, तुमने भी। हमसे ऊँचा रहा सुरेश, जिसने सारा भार हमारे कंधों पर लाद कर अपने को मुक्त कर लिया। लेकिन यह वक्त इस प्रकार घाव में बेदर्दी से उँगलियाँ दौड़ाने का नहीं है, अब तो इस सब की जवाबदेही वहीं की जा सकती है। तब तक के लिए हम दोनों ही मौन धारण करके धैर्य का परिचय दें।

लेकिन इस वक्त मैं सिर्फ एक बात कहना चाहता हूँ, क्योंकि इसके बाद मैं अपनी आवाज़ घोंट दूँगा। वह यह है। मेरे मन में अनुताप है भी और नहीं भी। तुम मुझे निर्मम कह सकती हो, मुझको आपत्ति नहीं है। लेकिन मुझे भी कहने दो। पत्ते डोलते हैं, हम उन्हें कुछ भी नहीं कहने जाते, नदी उन्मादिनी की तरह बहती जाती है, हम उसके लिए भी कड़ुवे शब्द नहीं ढूँढ़ते। इनमें कहीं कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं है, उसकी कहीं कोई गुञ्जाइश ही नहीं। तो फिर हमारा अपराध ? उसका समाधान ? सच कहना, क्या सत्य के अनुसार यह पाप कहलाया कि हम सृष्टि के नियमों की अवहेलना सफलतापूर्वक न कर सके ? दैव द्वारा भेजी गई इस गाज को अगर हम सिर ऊँचा करके न झेल सके और उसके नीचे पिस गए, तो क्या यह पाप कहलाया ? क्या हम नफ़रत से ज्यादा करुणा के अधिकारी नहीं हैं ? रजनी, मैं जानता हूँ, मैं अपने अपराध को कम करके देखने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ, लेकिन क्या प्रश्न का यह दूसरा पहलू एकदम ग़लत है ? यदि कोई सत्यार्थी इसका ऐसा दृष्टिकोण ले, तो क्या वह एकदम असंगत होगा ? क्या यह प्रश्न थोड़ी मात्रा में भी तर्क-सम्मत नहीं है ?...मैं इस समय ज्यादा कह सकने में असमर्थ हूँ लेकिन मेरे अन्दर विविध प्रश्न उठ रहे हैं और मैं इनके सम्बन्ध में घोर अन्धकार में हूँ। मुझे प्रकाश चाहिए।...सम्भव है तर्क-द्वारा हमारे अपराध का परिहार हो सके, यद्यपि ऐसा करना मैं स्वयं पाप और कायरता समझूँगा ; क्योंकि इस अनुताप का सम्बन्ध तुमसे है, उस तुमसे जिसे मैंने परिचय के पहले क्षण से पूजना शुरू कर दिया था ; उस तुमसे, जो मानवता की प्रतीक है ; उस तुमसे जो माँ है। तुम आज चाहो तो सोच सकती हो कि मैंने तुम्हें भुलावा

देकर, तुम्हारा मोती छीन लिया है । यदि ऐसा कोई विचार तुम्हें सताये, तो मैं किसी भी रूप में, प्राण देकर भी, जुर्माना दे सकूँगा, दूँगा । समाज को मुझे सजा देने का अधिकार है, मैं इसमें शक नहीं करता, लेकिन मैं शपथ खाकर कहता हूँ रजनी, अपने अपराध के विषय में मैं अन्धकार में हूँ ।

मैं तुम्हें देवी के समान पवित्र देखता हूँ । मुमकिन है इसके लिये कुछ ज़्यादा अभिमान, अपने लिए विश्वास और साहस की ज़रूरत होती हो, लेकिन मैं मौत के तख़्ते पर भी खड़ा हुआ कह सकता हूँ, मैं पूर्ण निर्दोष हूँ, और गोकि दुनिया के किसी कानून में मुजरिम खुद फैसला नहीं करता, लेकिन मेरा विश्वास है कि उसका अपना फ़ैसला सबसे ज़्यादा वज़न रखता है ।

रजनी, अगर कहा जाय तो हम तो केवल औज़ार रहे, उस षड्यंत्र के जो हमारी बुनियाद उस पर बनी हुई इमारत के खिलाफ करती है । यह सारी इमारत ही गलत है, और उसके ढहने की कामना करते हुए तुमसे क्षमा चाहता हूँ ।

—रघुनन्दन ।

रजनी के चेहरे पर एक खिन्न और विषण्ण मुस्कराहट आई और मुर्झा गई—घाव हरा है ।...वह भी रघुनन्दन की अपेक्षा अधिक ज्योति में नहीं है । 'अन्धकार से मुझे प्रकाश में ले चल'—उसे धर्मग्रंथों का कहीं सुना हुआ वाक्य याद आया ।

५

कोई चार महीने बाद ।

रजनी बैठी बच्चे को दूध पिला रही थी । शाम के सात बजे थे । सुरेश हाथ में अखबार लिये विक्षिप्त-सा आया । उसका ढाँचा तक

क्रन्दनकर रहा था। आँख में बड़े-बड़े विवशता के आँसू, गिर पड़ने को विकल, झूल रहे थे; गाल पर कुछ मद्धिम रेखाएँ खिची भी थी। रजनी के हाथ में अख़बार का पन्ना देते हुए उसने कहा—पढ़ो! उसका गला रुँधा हुआ था और वह आराम कुर्सी में बेदम-सा गिर पड़ा और इस तेजी से जल्दी-जल्दी साँस लेने लगा मानों उसका दम घुँट रहा हो।

रजनी ने आँखें दौड़ाईं; बड़े मोटे-मोटे अक्षरों में छपा हुआ था—'बम्बई की मिल में जबर्दस्त हड़ताल। तैंतालिस हजार मज़दूरों ने काम छोड़ा। पिकेटिंग जारी है। हड़तालियों पर गोली चली। प्रमुख हड़ताली और मज़दूर नेता रघुनन्दन शिकार हुआ। मज़दूरों में अपार रोष।' अन्दर ख़बर में था—हड़तालियों का नेतृत्व करने वाले स्वर्गीय रघुनन्दन ने, जो कुछ ही काल पहले लखनऊ के मज़दूर संघ के सभापति थे, बम्बई आने के साथ ही, श्रमिक आंदोलन की रफ्तार जितनी तेज कर दी थी, उतनी इधर होनी सम्भव न थी। उनकी निर्भीकता और सदाचारिता ने सब को मोह लिया था। मज़दूरों ने केवल अपना नेता नहीं खोया है, बल्कि उससे बहुत ज़्यादा। जैसी बहादुरी से मौत को उन्होंने गले लगाया है, वह स्वयं आनेवाली मज़दूर नस्लों को इज़्जत के साथ कुरबान होना सिखाती रहेगी। गोली चलाने के पहले बंदूकचियों ने डराने के लिए कहा—अब हम गोली चलाते हैं, हट जाओ। इसके उत्तर में इस वीर नेता ने उनकी नपुंसकता पर अट्टहास करते हुए कहा—हम मरने ही आये...वाक्य पूरा भी न हुआ कि वे गिर पड़े। एक गोली सीने को छलनी करते हुए निकल गई, दूसरी सर को......।

रजनी ने अख़बार पढ़कर और मानों ढुलकते हुए आँसुओं को

झूला झुलाते हुए कहा—कैसा देवपुरुष...और उसकी बात का वांछित जवाब सुरेश की हिचकियों ने पूरी तरह दे दिया।

६

जिस तरह एक तह के बाद दूसरी जमा हो-होकर नीचे की चीज़ को धुँधला और अस्पष्ट बनाती जाती है, उसी तरह छः साल कुछ न कुछ धुँधलेपन का पानी स्मृति पर चढ़ाते हुए निकल गये।

एक दम्पति और उनके तीन बच्चे सारनाथ देखने आए हैं। पति की आयु है लगभग तीस वर्ष; पत्नी की चौबीस-पच्चीस। बड़े लड़के की उम्र होगी सात साल की, दूसरे लड़के नीलाभ की पाँच और तीसरा अभी गोद ही में है।

एक प्राचीन स्तूप को देखते-देखते युवती ठिठककर खड़ी हो गई। पुरुष पास आया और उसने देखा दीवाल पर महीन अक्षरों में कुछ खुदा हुआ था। उसने पढ़ा—

रजनी और रघुनन्दनः १५ अगस्त १६३८। मैत्री और विश्वास की स्मृति में।

पुरुष ने जिज्ञासा की। क्यों रजनी? रघुनन्दन! उससे अलग हुए छः वर्ष होने आये लेकिन लगता है मानो कल की ही बात हो, जब कि वह देवकुमार-सा, हमारे संग हँसता-खेलता, ठठोली करता फिरता था। तुम्हें वह उस साल लेने आया था, तभी की ही बात है शायद? मन आज भी रोने को मचलता है। कैसी जीवनी शक्ति, कैसा मोहक व्यक्तित्व!

रजनी ने खिन्न मुस्कराहट और अवसाद के साथ एक छोटा-सा 'हाँ' कहा, और सुरेश को इस तरह अपने में डूबे और घाव के टाँके

खोलते देख उसने नीलाभ को अपने पास खींचा, छाती से लगाया, चूमा और यों ही पूछा—नील, तुम्हारे बाबूजी.... ?

नीलाभ ने सदा की भाँति प्रश्न के उत्तरार्द्ध को समझते हुए अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया और कहा—यह ... और सुरेश के कुर्ते के दामन को तसदीक करने के हेतु पकड़ लिया लेकिन रजनी ने तो केवल आकाश की ओर निहारा !

उसकी भी आँखें बुरी तरह डबडबा आईं, लेकिन उसने अपने ऊपर वश करके पति से कहा—आओ चलो, घर चलें। मुझे अभी अभी एक ज़रूरी काम याद हो आया है। तुम्हें नहीं मालूम, आज मेरा जन्म दिन है न ? माँ ने दावत का आयोजन किया है।

जब वे घर पहुँचे, उन्हें मालूम हुआ कि जन्म दिन कल होगा।

घर पहुँचते-पहुँचते भर में रजनी ने, उन्मत्त-सी अपने कमरे में दौड़कर उसे अन्दर से चिपका लिया।

कुछ ही देर बाद सुरेश उसके कमरे की ओर गया और दरवाजे पर दस्तक देते हुए जब वह अन्दर दाखिल हुआ तो उसने देखा, रजनी एक अजीब हालत में बैठी हुई है; उसे तन-बदन की सुध नहीं है, बाल बिखरे हैं, आँचल कहीं का कहीं जा रहा है, ढुलके हुए आँसू गाल पर सूख गए हैं और इस समय भी रह-रहकर उभर आते हैं।...

सुरेश जो प्रश्न पूछने गया था, उसने उसे पूछा ही—तुम्हारा जन्म दिन तो कल होगा ?

रजनी ने समाधान किया, लेकिन अस्त-व्यस्त-सा—हाँ, मैं भूलकर आज के ही धोखे में रही।

फिर सुरेश ने देखा, रजनी के पैर के पास ही एक सफेद काग़ज़

पड़ा हुआ है, जो अब समय की मार से फीका हो रहा है। ऊपर से, मालूम होता है, अभी हाल उस पर थोड़ा पानी ढुलक गया है। सुरेश ने उसे पढ़ने की कोशिश की, लेकिन असफल रहा। जितना ही सुरेश आँख गड़ाता था, पानी (शायद आँसू ?) के कारण, लकीरों की फैली हुई टाँगें बस और बढ़ जाती थीं।

माँ

एक दफ्तर के बाबू की ज़िन्दगी का अन्दाज़ा रेगिस्तान से किया जा सकता है—सूखा, निचाट, जलता मैदान। उसमें गरम हवा तो बारहमासा चलती है ही, साथ में हज़ार अज़दहे की शक्लें अख्तियार करके, बगूले भी उठते हैं, बवण्डर भी। इन बगूलों और बवण्डर के बीच, ठण्डी बयार का एक झोंका भी कभी आया है कि नहीं, इसकी जाँच नहीं की गई। उसके उस सपाट, समथल, मैदान-सदृश जीवन में कहीं ऊँचा-नीचा, खाई-खड्ड भी नहीं कि उसी से ठोकर खाकर, टकराकर वह गिर पड़े, सिर फूटे, खून बहे। नहीं, उसकी भी कहीं गुञ्जाइश नहीं। ताज्जुब होगा, लेकिन बात वाक़ई यह है कि वह बाबू अपनी इस बदक़िस्मती के लिए सिर धुनता है। अपनी ज़िन्दगी के इस बेमानी यकसाँ-पन से उसकी नजात नहीं। वह यह नहीं चाहता कि रोज़ वे ही शक्लें देखे, वही लिबास देखे, पहने, वैसी ही मुर्दा

बातें करे। वह सुख नहीं चाहता, बल्कि उस समथलपन से उसका दम घुटता है, जो उसके अभागे जीवन का मूल-मन्त्र है। रोज़, रोज़, रोज़। कहीं खाक नयापन नहीं। यह ऊब उसे खाये डालती है।

ऐसे जीवन में भला क्या कुछ लिखने योग्य। उसका आज बीते हुए कल की पिटी लकीर पर चल रहा है, और जो कल आने वाला है, वह भी आज की सिसक पर ही अपनी टट्टी खड़ी करेगा।

तो फिर जिस एक मनुष्य से हमारा परिचय होगा, उसके ही पास ऐसी कौन-सी बहुत-सी मोटे टाइप में बॉर्डर देकर छापने वाली बातें होंगी, यह तो हमारे सोचने की बात है।

इसलिए उसके उस जड़, गतिहीन जीवन में हम ही क्यों बहुत रुकते चलें, और चुपके-से क्यों न उसके उस मधुमय जीवन की दो-चार मोटी और सुन्दर घटनाओं पर कुछ सतरें कह कर उसके जीवन के उस अध्याय पर पहुँच जायँ जहाँ पहुँच कर उसे लगने लगा था कि उस रेगिस्तान में भी ठंडी बयार थोड़ी-सी बहने लगी है और बगूले थोड़े-से थमने लगे हैं, जिस बीच उसकी जिन्दगी के अधपके फूल से रुई उड़ गई और रह गया थोड़ा-सा खोखला छिलका।

गिरस्ती में तीन प्राणीः रुक्मिणी, मनोरथ और छः साल का मोहन। शादी हुए नौ साल।

मनोरथ। दफ्तर का बाबू। वेतन, तैंतालिस रुपया महीना।

शहर के गुञ्जान हिस्से में छोटा, सँकरा मकान। जितनी लम्बी चादर हो उतना ही पैर फैलाया जा सकता है।

रुक्मिणी हर दृष्टि से सुघड़ गृहलक्ष्मी। उस कुँआ खोद और पानी पी-वाली जिन्दगी में भी मुर्दा होने से बचे रहने का श्रेय उसी को।

रुक्मिणी कुशल है। कुछ अनुभव और कुछ दृष्टि के पैनेपन से वह जानती है, पारस्परिक जीवन मे किन घावों में उँगली छू जाने से टीस मालूम होती है, इसलिए उस ओर से भी सचेत है।

......ये कुछ मोटी बातें हैं।

पास से पाई गई कुछ झलकें..............

साफ़ ही है, मनोरथ का वेतन काफ़ी कम है। पर दम्पति में सन्तोष का अथाह सागर। उनका सूखा लक्कड़-सदृश जीवन। पारस्परिक वेदनानुभूति के कारण उसमें भी कुछ हरियाली बाक़ी है।

चाहे बात कुछ भी हो, पर नौजवान मनोरथ का अपना पक्का विचार है कि अपने तत्कालीन जीवन को ही अपना सारा ख़ज़ाना मान कर भी यदि उसे मरना पड़े तो उसे क्षोभ-ग्लानि न होगी। वह जानता है, अपनी स्त्री को पाकर उसका जीवन वृथा होने से बच गया।

दोनों पति-पत्नी में आपस में बड़ा भरोसा, अपनापन, सहानुभूति है। उनका विवाहित जीवन किसी मत्त तूफ़ानी नदी की तरह नहीं, जिसके हड़हड़ाते पानी के थपेड़ों की मार से उसमें पड़ी हुई नौका के चप्पे-चप्पे निकल जाते हैं। उनका जीवन एक गम्भीर, गहरी, मर्यादित सरिता की तरह मन्द-मन्द धीर गति से बढ़ता है। अपनी सीमाओं से पूर्णतया परिचित। वह जो मनोरथ और रुक्मिणी की नाव, कगारों और ऊँची, क्षुधित चट्टानों से राह पहचानती हुई अब तक बहती आई है, बड़ी सुघर है। कहीं कोई मटमैलापन, गँदलापन उनके जीवन में नहीं है।

रुक्मिणी आई मामूली ऊँचे ख़ानदान से। पर उसने देख लिया, उसका नया मकान कङ्गाल है। हाथ पर रोक लगानी होगी।

रुक्मिणी का नये वातावरण से समझौता हो गया। खुद उसके हाथ से मकड़ी के जाले साफ होने लगे।

वह पूरी वृत्तियों से घर के सङ्ग एक हो गई।

उसने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो दिया।

फिर जब शादी के तीन साल बाद मोहन आ गया, तो उसे और भी निकास मिला और मोहन पर अपना सारा स्नेह बिखेर कर उसने सन्तोष की एक साँस ली।

मनोरथ सुखी है, उसे अपना एक अनन्य आत्मीय मिला।

गिरस्ती के तीनों प्राणियों का अस्तित्व अपने में केवल तिहाई है और बाकी लोगों के मेल से पूर्णता को पाता है।

उनकी ज़िन्दगी में तङ्गदस्ती के दिन भी आते हैं, पर राहें भी निकल आती हैं।

इस प्रकार हास्य-विनोद से उदासी को दबाते हुए परस्पर विश्वास, प्रीति और लगन से उस दम्पति का सम्मिलित जीवन दसवें वर्ष के पास पहुँचा है। इस बीच उनमें कुछ बातों पर झगड़ा भी हुआ है, लड़ाई भी हुई है; पर उनके बीच अनसुथरे मनमुटाव के लिए कोई गुञ्जाइश कभी नहीं रही। उनके जीवन-चक्र में पहिए का चक्का यदि कभी टूट भी गया, तो दम्पति ने उस चक्के के स्थान में अपने हाथ देकर पहिए को चलाया है। उनकी गाड़ी इसीलिए कहीं रुकी नहीं। और यही उनके दाम्पत्य जीवन का इतिहास है। उनके जीवन में भी हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, क्रीड़ा-आकुलता का समारोह रहा है; पर उस दम्पति ने इन सबकी समष्टि को सदैव पुकारा—सुख। उनका जीवन सुखी रहा, ऐसा उस दम्पति ने सदैव सोचा। और आज दस साल के कुछ

विस्तृत काल के बाद, वह अपने अतीत को कड़वाहट और तीखेपन से बचकर और किञ्चित् सन्तोष से देख सकते हैं और साथ ही इसी अतीत की रोशनी से भावी के पथ को भी उजाला कर सकते हैं।

उनका जीवन फिरता-ढलता बह रहा है।

प्रकृति में पहाड़ों के संग जिस प्रकार खाई-खड्डों का विधान है, ठीक उसी प्रकार तृप्ति के बाद क्षोभ और सुख के बाद दुःख की प्रणाली है।

आखिरकार उस क्लर्क-दम्पति के सुघड़ जीवन की फिरती-ढलती नौका को मानो किसी क्षुधित चट्टान ने खा लिया।

मनोरथ की मृत्यु हो गई।

रुक्मिणी ने एकाएक अपने को असहाय पाया। रात तीन बजे के क़रीब मनोरथ की मृत्यु हुई थी। उस कुहराम और तहलके के बीच, चार पलों के लिए अपने आँसुओं को पीकर उसने रात ही रात मोहन को नौकरानी के सङ्ग भेज दिया। सब ने उस पर पागलपन का आरोप किया, किन्तु मोहन को नौकरानी के सङ्ग भेज कर ही उसने शान्ति की साँस ली! उसने क्या सोच कर ऐसा किया, यह कोई नहीं जानता।

यहाँ मकान पर कुहराम मचा हुआ था। अपने छिने सुहाग की समाधि का ध्यान कर-करके रुक्मिणी उन्मत्त हो गई। रोते-रोते आँखें बीर-बहूटी हो गईं और दुःख से उसका बुरा हाल था।

उधर मोहन हँसी-खेल में बालकों के संग रमा रह गया।

क़रीब आठ-दस दिन बाद जब वह नौकरानी के यहाँ से घर लौटा, उसने सब कुछ ज्यों का त्यों पाया। कहीं लेश मात्र अस्त-व्यस्तता

न थी। पहले की-सी ही सफ़ाई और ताज़गी हर ओर दीख पड़ती थी। उसकी बाल-बुद्धि में ज़्यादा तो क्या समझ में आता पर कहीं नाम को भी बेतरतीबी न पाकर उसका शक कली में से ही मुरझा गया। उसने तो पाया, मकान उतना ही सन्तुष्ट और सुखी है जितना पहले था।

मोहन घर के अन्दर घुसा। माँ ने अतिशय स्नेह से ललककर उसे गोद में लेकर प्यार किया और पूछा—खूब खेले न बेटा, तुम ?

..... मोहन ने जैसे आपत्ति की—काहे से खेलता माँ, खिलौने तो थे नहीं। सिर्फ़ मट्टी के घरौंदे बनाता रहा।

रुक्मिणी ने आपत्ति का समाधान किया—हाँ, हाँ, बेटा, ठीक कहता है तू। खिलौने तो तेरे पास थे ही नहीं। सच है, काहे से खेलता। मैं भी कैसी बावली हूँ। अच्छा, इस बार तुझे एक गेंद, एक बैट, एक सीटी और एक बिगुल मँगा दूँगी। तब तू उनसे खेलना।

मोहन ने लिस्ट में जोड़ा और माँ, एक रबड़ का साहब भी। इसे तो तुम भूल ही गई थीं।

माँ ने कहा—हाँ इसे तो मैं सच ही भूल गई थी। एक रबड़ का साहब भी...... ।

पर दूसरे पल, इस सारे भुलावे के ऊपर, रबड़ के साहब के ऊपर, सीटी के ऊपर, उसे अपना नंगा, ताज रहित, छिना हुआ सुहाग दीख पड़ने लगा। उसका गला रुँध गया, मोती के दाने-जैसे आँसुओं ने बहुतेरी निकलने की कोशिश की; पर रुक्मिणी उन आँसुओं को पी गई, स्वयं अपने रक्त की तरह। क्योंकि मोहन को आँसू न दीख पड़ें।

अपने को झट पूर्णतया प्रकृतिस्थ करके वह मोहन से फिर अपना मन बहलाने लगी। उसे लगता था वह अपनी सच्ची मनोभावनाओं से धोखा कर रही है; पर उसी धोखे में अपने छिने और मृत सुहाग

के उपरान्त अपने जीवित और सदाबहार सुहाग मोहन की क्षेम जान, उसने यही धोखा खेलना निश्चित किया था। उसका पति तो अवश्य चल चुका था; पर उसकी आँखों का तारा मोहन......दुगुनी चमक वाले ताज का सुहाग...!

पत्नीत्व की शकल में बिखरने वाला रुक्मिणी का स्नेह मातृत्व के निर्मल झरने में आकर समा गया।

मोहन झुटपुटे तक तो पिता जी की बाट देखता-देखता चुप रहा। फिर भी वे न आये, तो मोहन को थोड़ा-सा अचरज हुआ। उसने माँ से पूछा—माँ, बाबूजी आज अब तक नहीं आये?

इस निरीह प्रश्न ने रुक्मिणी का कलेजा छेद दिया। उसे सच तो यह लगा कि कह दे—'बेटा तुझे क्या मालूम! देखता नहीं, मेरा सुहाग दिन-दहाड़े लुट गया! केवल तेरे कारण लगाई हुई माथे की यह सोहाग-बिन्दी मानो रो-रोकर मुझे उलाहना दे रही है 'तुम्हें धोखा करना ही था तो मुझे क्यों नाहक तंग किया?' नादान बच्चे! मैं क्या समझाऊँ उस सोहाग-बिन्दी को और क्या तुझे, मेरे आँखों के लाल! मेरा तो रैन बसेरा ही उजड़ गया! यह सुहाग-बिन्दी, यह चूड़ी, सब मानो विप्लव करना चाहती हैं। आँखों के डोरे दुश्चिन्ता से काले पड़ना चाहते हैं, माथे पर अन्धे की लिखावट की तरह झुर्रियाँ पड़-पड़ के हट जाती हैं, अस्तित्व की नींव ही डगमग होती है। मेरी हँसी में रोना होता है और होता है एक तीखापन, एक कसैलापन, जो स्वयं मेरा उपहास करता है। पर मैं तो सिर्फ़ एक बात जानती हूँ। मुझे तो हँसते जाना है, प्रलय के उस अन्तिम दिन तक जब महाध्वंस नृत्य करेगा, जब सीसे की स्थिर अनडोलती नदी मृत्यु बनकर समस्त जड़-चेतन प्रकृति पर करवट बदलकर लेट जायगी। वह भी एक दिन होगा,

क्योंकि उस दिन भी मेरी हँसी में विराम न आने पायेगा। मेरा उल्लास, मेरी हँसी, उस सीसे की नदी को भेद कर बहेगी। मुझे हँसते जाना ही होगा। माथे की झुर्रियाँ और शिकन अपने आने का पैग़ाम भेजेंगी। मैं हँस-हँस के उन्हें ठुकरा दूँगी और उन पैग़ाम लानेवाली बाँदियों से जोर से कह दूँगी—तुम भाग जाओ और भविष्य में फिर अपने व्यर्थ प्रयास मत करो। कुछ हाथ न लगेगा।

'मैं अपने अन्दर उल्लास की एक आँधी उठाऊँगी जो इन पतझड़ के पत्तों जैसी झुर्रियों को उड़ा ले जायगी। इन झुर्रियों को जाना ही होगा। सब कुछ उल्लासमय होगा।

'मैं सृष्टि के अन्त तक यों ही हँसती रहूँगी। ऐ मेरे लाड़ले, अब मेरे पास अपना कुछ नहीं है, हँसना-रोना, सोना-जागना कुछ नहीं। जब तक तू है, मेरे लाड़ले, मैं शत-शत बार मरकर भी न मर सकूँगी, क्योंकि यही मेरे अन्दर की आवाज कहती है। मेरे पास जो कुछ है वह सब तेरा है, ऐ मेरे सदाबहार सुहाग, तेरा, तेरा, सब कुछ तेरा है। सब, सब, सब..और एक दिन इस सबको तेरे नन्हें हाथों में सौंप कर तुझसे अन्तिम बिनती करूँगी कि तू अब अपनी रखवाली करने वाली को छुट्टी दे दे, जिसमें वह एक बार जी भरकर रो ले, आँसुओं में नहा ले, और अपनी उदासी, नैराश्य, उजड़े सूनेपन की असंख्य झुर्रियों में डूबकर वह गहरे नीचे जा बैठे और उस शान्ति को पा ले जो सब कुछ खोकर मिलती है जो शान्ति माली को उजड़ा बाग देखकर होती है, जिस बाग की एक-एक पत्ती उसकी माँ और बहन थी; जो शान्ति कोयल को मधुमास जाते और पतझड़ आते देखकर होती है; जो शान्ति महान् बरगद को अपनी आँखों के सामने अपनी एक-एक शाखा को टूटते देखकर होती है...उदासी का उल्लास। मैं भी

जिसमें ऐसी ही शान्ति पा सकूँ। किन्तु इतना सच मानो कि जब तक तुम छुट्टी न दोगे, मुझे तुम सदियों तक ऐसा ही पाओगे......। मेरा समस्त हृदय रो-रोकर खून टपकाता रहेगा, आँख के कोये चटाख़ से दो टुकड़े हो जायँगे, पर आँसू की एक बूँद न झलक पायेगी। चाम जल उठेगा, उसमें से राख उठेगी, किन्तु झुर्रियाँ न आने पायेंगी, न आने पायेंगी, न आने पायेंगी, ऐ मेरे सुहाग के अन्तिम प्रदीप, न आने पायेंगी। मेरे लाल, मैं मातृत्व की शपथ खाती हूँ, एक उल्लास का अन्धड़ बहेगा और बदसूरत झुर्रियों को मैं दूर ही से ठेल दूँगी, क्योंकि शायद तू नहीं जानता मातृत्व जितना ही कोमल उतना ही कठोर होता है, मेरे लाल।'

रुक्मिणी ने उन्मत्त की तरह दौड़कर मोहन को कसकर बाँहों में भर लिया और थोड़ी देर तक उसे ज़ोर से छाती से चिपकाये रही। उसकी छाती में दूध भर आया और उसकी चोली भीग गई। परन्तु वह तो मानों सारे सकून और सारे तूफ़ान को एक संग ही छाती से लगाये बैठी रही। उसका हृदय रो रहा था। उसकी आँखें विचार-शून्य थीं। यदि उनमें कुछ था, तो वह था अपार मातृत्व। मोहन के उस नन्हें से प्रश्न से उसके अन्दर एक पैनी हूक उठी, जो उसके सारे अस्तित्व में व्याप गई। उसके अन्दर पीड़ा का तिक्त आँसू ग़ज़ब की तेज़ी से उठ-गिर रहा था; पर आश्चर्य है, उसकी आँख के कोयों में एक छोटा-सा अनारदाना तक न आने पाया। मोहन को सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि माँ ने आज उसको रोज़ से ज्यादा ताकत से बाँहों में कस लिया है। रुक्मिणी के हृदय की पुकार वह कैसे सुन सकता। और अच्छा ही है!

रुक्मिणी ने अपने को पूर्णतया वश में करके उत्तर दिया—'नहीं

बेटा, तुझे मालूम नहीं, वे तो इलाज कराने गये। अल्मोड़ा में एक बड़े डॉक्टर हैं; अब उन्हीं की दवा होगी......।' एकाएक उसने अपना मुँह हाथ से ढँक लिया, 'और आँख में न जाने क्या पड़ गया' कहती हुई काम का बहाना करके अन्दर चली गई। नादान मोहन माँ के अकेलेपन की ज़रूरत को बिलकुल न समझता हुआ, उसके पीछे-पीछे हो लिया।

रुक्मिणी मोहन को सङ्ग आते देख कर उमड़ते आँसुओं को ऊपर चढ़ा ले गई—आँख में जो 'कुछ' पड़ गया था उसे पड़ा ही रहने दिया! क्या करती, वह 'कुछ' तो हृदय की पोर-पोर में बस गया था न!

उसने जान-बूझकर अपने और मोहन के बीच परदा डालना स्वीकार किया था। उसने मानों उस परदे के अन्दर से झाँक कर कहा—'आओ बेटा, तबियत नहीं लगती, घोड़ा-घोड़ा खेलें। मैं घोड़ा बनती हूँ, तुम मुझ पर सवारी करो। पर ऐ बाँके सवार तुम चढ़ते तो हो, लेकिन मुझे ज़्यादा कोड़े न लगाना, नहीं मैं तुम्हें गिरा दूँगी।'

और वह हँसी। यह उसके उत्तरार्द्ध जीवन की बहुत बड़ी जीत थी।

* * *

सामने मोहन बैठा अपनी मोटर और बिगुल से उलझा हुआ था। रुक्मिणी सिंगारदान सामने रखे, वास्तविक मुस्कान पाने में असमर्थ होने के कारण हँस रही थी। उफ! गाँठ, धोखा!! धोखा, गाँठ!! रुक्मिणी के बिलखते जीवन की एक अनुपम गाँठ, जिसे रुक्मिणी ने एक बार कलेजे पर पत्थर रख कर सदा के लिए डाल लिया; और जिस ने एक बच्चे के जीवन को चकनाचूर होने से बचा लिया।

दिन बीत जाते हैं; गाँठ नहीं खुलती।

मनोरथ अलमोड़ा से इलाज करा के कभी नहीं लौटा।

उड़ानें

अठारह जुलाई की शाम को लाहौर से हवड़ा जाने वाली गाड़ी भाग रही थी—बहुत तेज, मानो यात्रा के अंतिम बिन्दु पर चन्दन, अगुरु और धूप का सोने का थाल लिये कोई उसकी भी बेकरारी के साथ प्रतीक्षा कर रहा हो। उसी गाड़ी में बैठा चला जा रहा था हमारा चित्तरंजन, रुपहली आकांक्षाओंवाला चित्तरंजन।

गाड़ी में बहुत भीड़ है, कन्धे से कन्धा छिला जाता है। सब गाड़ी में बैठे हुए भागे जा रहे हैं, मंज़िल पर मंज़िल तै करते हुए, भरी, लहराती हुई, बल खाती हुई, दीवानी नागिन उमंगों को लिये हुए। अतृप्ति और प्यास के बीच ही चित्तरंजन भी एक कोने में सिमटकर बैठा हुआ है। उसका मुँह मुरझाया हुआ है, पर रह रहकर उसके चेहरे पर सोने-रूपे का एक पतला तार खिंच आता है। और खिंच आती है दीप्ति की एक पतली रेखा।

चित्तरंजन को इस समय अपने चारों ओर के लोगों से कुछ नहीं कहना है, क्योंकि वह स्वयं अपने में पूर्ण है। इस समय उसके पास कहने सुनने को कुछ नहीं है, जो है वह सोचने विचारने को। उसकी लगन बाहर न बिखर कर अन्दर अन्दर फैल रही है। वह अपने में खोया हुआ-सा बैठा है। इन कारणों से उसे अगल-बगल के लोगों के हेल-मेल, उनकी सरगोशियों से कोई सरोकार, कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल रह-रहकर अपने बालों पर हाथ फेर लेता है जिससे मालूम होता है कि उसे उस रेल से बड़ी शिकायत है जो यों बैलगाड़ी की चाल से जा रही है और चित्तरंजन के चित्त का खयाल करके जल्दी से उसे उसकी लाजो के पास नहीं पहुँचा देती। चित्तरंजन सोचता है—कैसी कूड़ा, कोढ़ी गाड़ी है! रेंगती है, दम तो हई नहीं।

चित्तरंजन से और प्रतीक्षा होती नहीं, उसका हृदय लाजो के पास अटका है और उसका प्रेम पुकार पड़ना चाहता है। पर बेचारा चित्तरंजन...वह सोचता है उसके पास पंख भी नहीं हैं कि वह उड़ कर पिया के देस पहुँच जाय, जहाँ वह स्थान और काल का अतिक्रमण कर सके। वह रेल में बैठा है, पर सशक है। वह सिमट-सिमट कर अपने में ही समाया चाहता है। मानों उसके अन्दर से कोई कुछ चुरा लेगा।

उसे अनेकों विचार आते हैं, उस समय से लेकर जब वह एक साल पहले व्यापार के लिए घर से निकला था। पर कुछ भी हो, चित्तरंजन को तो लगता है, उसे घर से निकले युग हो गये और उसी हिसाब से उसकी अभिलाषा, आतुरता अपरिमित है।

वह सोचता है—

लाजो! कितना सुन्दर, सुघड़ नाम है! नीड़, जिसमें मन-पंछी समा-सा जाना चाहता है! कितना शील, कितना संकोच, कितनी

लज्जा ! मैंने कहा था—लाजो, पाख ख़तम होते-होते मैं व्यापार करने जाऊँगा । तुझे कुछ कहना है ?

लाजो—मुझे किस पर छोड़ जाते हो !

मैं—अपने पर, तुम पर......

'उँहुक्, भाई नहीं, देवर नहीं, ननद नहीं ।'

'फिर भी मैं तो हूँ...'

'तुम तो चले ही जा रहे हो ।'

'पर अपना एक प्रतिनिधि तो छोड़े जाता हूँ ।'

'कौन ?'

'तुम बताओ ।'

'कोई तो नहीं ।'

'नहीं कैसे ? कुछ स्मृतियाँ !'

'तुम न रहोगे तो मैं उनको लेकर क्या करूँगी ?'

'मैं होता तो उनकी आवश्यकता ही क्या थी ? मैं न रहूँगा तो तुम उनसे खेलना, हँसना-बोलना, बनाना-बिगाड़ना, तोड़ना-मरोड़ना ......जब जी चाहे उन स्मृतियों को दो चार उलाहने भी दे लेना, वे उलाहने मुझे मिल जायँगे । समझीं । उन्हीं स्मृतियों में मुझे पा लेना । (तुमने गुड़िया खेली है न ?) उन्हीं स्मृतियों को तुम हृदय से लगा लेना, आँसुओं से भिगो देना और ओस-सरीखे झिलमिल हास के उस पार ताकना तो स्मृतियों के इस कूल आकर मैं निश्चय ही तुम्हें मिल जाऊँगा ।'

'बस, बस । रहने दो अपनी कविता । अकेला घर तो मुझे अभी से काटे खाता है ।'

'पर सोचो तो नादान् रानी, कितने दिन ऐसे चलेगा ?'

'चले, चाहे न चले। मैं तो तुम्हें ही पाकर धन्य हूँ। मुझे और कुछ न चाहिये।'

'पर सुनो तो, बचपना नहीं किया करते। ऐसा कीड़ों का-सा जीवन—इसका भार हम कब तक लादे चलेंगे? नीरस, निर्मूल जीवन......'

'नीरस, निर्मूल भला क्यों? प्रेमिकों का जीवन शुष्क मरुस्थली में भी शीतल झरना निकाल सकता है, जानते हो?'

'अच्छा, अब तुम्हारी कविता की पारी है...'

'कुछ भी कहो, मैं तुम्हें जाने न दूँगी।'

'पर मुझे तो जाना ही होगा।'

'तुम ऐसा कहते हो, लो अब से मेरी तुम्हारी कुट्टी......मैं कुछ भी नहीं जानती......तुमने देहलीज़ लाँघी और मैंने नयी सोहागिन चुनरी पहनी...मैं तो दूसरा घर करूँगी......'

'ओफ़्फ़ोह! ऐसा? तू इतना गुमान काहे करती है, कर ले न दूसरा घर!'

'हँसती हूँ इससे समझते हो, झूठ कहती हूँ?'

'नहीं, भला मैं झूठ क्यों समझूँ?'

'डरते नहीं?'

'कोई बात हो तब न? तू दूसरे घर चली जायगी, फिर भी मैं तो तुझे छोड़ने से रहा...!'

'अच्छा एक बात सुनो। (रुख़ बदलती है) तुम जाओ, पर मुझे जादू की एक छूरी देते जाओ जिसमें जब तुम पर कोई संकट पड़े, छूरी काली हो जाय और उसी छूरी पर मैं उतर जाऊँ!'

'अरे यह तो परी की कहानी में होता है!'

'कहीं होता हो इससे क्या ? मुझे तो छूरी चाहिये।'

'वह मेरे तेरे बस का नहीं...'

'अच्छा जादू का चिराग़ सही, जो संकट पड़ने पर गुल हो जाय।'

'वह मेरे तेरे बस का नहीं...'

'अच्छा सोने का धागा सही जो संकट पड़ने पर टूट जाय...'

'सोने का धागा तो मेरे बस का, लेकिन जादू... वह मानेगा क्यों ?

'कहते जाओ तो मान जायगा।'

'मेरी लाजो, वह मेरे तेरे बस का नहीं।'

'अच्छा जादू की बटुली ही सही, संकट पड़ने पर जिसमें से चावल खदर-खदरकर बाहर आ पड़े। मैं समझ लूँगी, प्रियतम पर संकट पड़ा है और मैं जौहर कर लूँगी।'

'यह मेरे तेरे बस का नहीं, हृदय में बसनेवाली !'

चित्तरंजन के वक्ष पर एक सोने की जंजीर है। तन्द्रालस रंजन ने उसे उठाया और उसमें लगे किसी सुन्दरी, संभवतः लाजो, के चित्र को चूम लिया। हार में वह मोती पिरोये जा रहा है—

लाजो—अच्छा तो अपनी एक तसवीर सही, जो संकट के समय धुंधली पड़ चले। मैं समझ जाऊँगी, मेरे हृदय के पीऊ पर संकट आया है और सोलह सिंगार कर चन्दन की लकड़ी में जौहर कर लूँगी।

'तसवीर का क्या काम ? मेरी तसवीर तो स्वयं तेरे हिरदय में उतरी है। मन की खिड़की खोल कर देख, वहाँ तुझे मेरा चित्र मिलेगा। जब वह चित्र धुंधला पड़ चले, तू सारे आभूषण नोच फेंकना और आग में कूद पड़ना, क्योंकि तब तेरे जियरे से हूक उठेगी, टीस मालूम होगी।...अच्छा, अब देर न कर, मेरे संग जाने वाला सामान बाँध दे।'

'मान गयी, पर बताओ मेरे लिए लाओगे क्या ?

'घने सारे मोती और जो तू कह।'

'ऐसा कुछ जिसमें मैं रति मालूम पड़ूँ और चाँद बीबी लजाकर छिप जायँ।'

'अच्छा तेरे लिए मैं कान के बुन्दे लाऊँगा जो तेरे कान में खूब फबेंगे।'

चित्तरंजन ने लाकेट खोला और तसवीर को चूम लिया। वह डूबा ही रहा—

लाजो—और?

'कमर के लिए मोती की करधनी, गले के लिए नौलखाहार, कंठा, गेंदा, और जो कह...'

'बस। और कुछ न चाहिये। पर देखना ज्यादा बाट न निहारनी पड़े। मैं रोज प्रभाती सूरज से कह दूँगी कि वह दिन भर तुम्हारी खोज रखे, वरना उसे सज़ा दूँगी। साँझ को जब वह विश्राम के लिए चलेगा तो सज कर मैं उससे पूछ लूँगी, मेरा पीऊ कैसा है? वह कितना चला? पैर में छाले तो नहीं पड़ गये? कब आओगे? यह सब मैं उस संध्याकालीन सूर्य से पूछ लूँगी। और उससे यह भी कह दूँगी कि तुम पर जब वह गिरे, रिमझिम मेंह की तरह शीतल हो जाय।'

देखो न, एक पाख पवन की तरह आया और गया! और मैं चलने को हुआ।

—मेरी लाजो ने परजाते के फूल बाल में खोंसे, चमेली की चूड़ियाँ पहनीं, जुही की करधनी, मौलश्री के बुन्दे, बेले के लच्छे, रजनीगंधा के कंगन, और मुझे विदा करने आयी। मुझे लगा, मैं उसे न छोड़ूँ।

लाकेट की तसवीर को उसने फिर चूमा।

—मुझे लगा मैं उसे न छोड़ूँ। मैंने कहा—लाजो, मैं तुझे प्यार करता हूँ और तेरे कहे हुए सब आभूषण ले कर आऊँगा। मैं परदेस में तुझे प्यार करूँगा। तू मुझे भूल न जाना। हम तुम एक ही चाँद-रानी को देखेंगे तो कैसा लगेगा? मानों स्वयं एक दूसरे को निहार रहे हों। गुलाब पर के नीहारकणों को मैं वहाँ चूमूँगा, तू यहाँ।

लाजो ने कहा—हाँ। पर मैंने देखा उसकी आँखों में आँसू आ गये थे।

'छी, रोओ नहीं।'

'मैं रोती कहाँ हूँ?'

—मैं चलने लगा तो मेरा हृदय पीड़ा से छटपटा रहा था और मैं देख रहा था कि लाजो के उस उल्लास में कैसा विषाद लहरें मार रहा है।

चित्र परदे पर वेग से आ रहे हैं—

—मैं घर पहुँच गया हूँ—परदेस से अपने ताप को बुझाता हुआ एक राही। अपने चिर-परिचित अपनेपन के बीच मैं एक बार फिर पहुँच गया हूँ।

चित्र के आने-जाने का वेग और बढ़ रहा है और वह उस लाकेट के चित्र को बार बार चूम रहा है। चित्तरंजन को लगता है, उसकी तृप्ति न होगी और यों ही लाकेट को चूमता-चूमता वह सृष्टि की अनन्य तलहटी में जा बैठेगा। पर कुछ हो, हार के मोती हाथ से छूट-छूट कर अलग जा पड़ते हैं और चित्तरंजन को शंका है—हार को अधूरा छोड़ कर ही कहीं उसे अपने को हमेशा के लिए खींच न लेना पड़े! चित्तरंजन सोच रहा है कि उसने संदेसा पहले ही से भिजवा दिया है और उसकी लाजो दूर से ही ड्योढ़ी पर खड़ी दिखती है प्रतीक्षा करती हुई।

और उस भोले चित्तरंजन को लगता है कि अनादि काल से लाजो वहीं उसी प्रकार खड़ी है—प्रतीक्षा उसके उर में है और उसकी आँखों के डोरों में। वह घर में घुसना चाहता है। लाजो मान करती है। कहती है, न जाने दूँगी। जाने न दूँगी। चित्तरंजन इसरार करता है—'प्रलय के-से कितने दिन बाद एक हारा-थका पथिक लौटकर तेरे द्वार आया है। उसे फेर मत, पाप लगेगा।'

लाजो कहती है—'पथ निहारते-निहारते जिया में फफोला पड़ गया, निर्मोही!'

और यहीं जब तक तन्द्रा टूटे टूटे, खुमार हटे हटे, एक प्रचण्ड धक्का लगा और सब कुछ अन्धकारमय हो गया।

दूसरे दिन हम लोगों ने अखबार में पढ़ा—बिहटा में ट्रेन-दुर्घटना।

जब मलबा हटाया गया, चित्तरंजन उसी उल्लास और आत्म-विस्मृति में सो रहा था। उसके वक्ष पर वही बहुत बार चूमा हुआ लाकेट था और था कुछ कम दाम के गहनों का एक दीन-हीन बकस, जो मानों मनुष्य के प्रयास का उपहास करता था!

क्षुधा-विक्षिप्त

दस दिन पूरे होने को आये, जब मनोहर ने थोड़ी-सी मटर चबा ली थी। वह मटर भी इस तरह मिल गई कि कोई छोटी-सी लड़की गाँव के भड़भूँजे के पास उसे भुनाने को ले जा रही थी। राह में डलिया हाथ से गिर गई और मटर बिखर गई। वह उसे बीनने लगी। मनोहर जो कुछ दूर खड़ा था, मटर को गिरी देखकर बेतहाशा दौड़ा और लड़की के बहुत हाँ-हाँ करने पर भी बहुत-कुछ बीनकर चट कर गया। खा चुकने पर उसने अजीब तरीक़े से लड़की की तरफ़ देखा और हँस दिया। उसके दिमाग़ को जैसे पेट की आग ने शराब के पीपे की तरह ख़ाली कर दिया हो। वह हँसता रहा और लड़की घबरा कर भाग गई। मनोहर फिर अपने टीले पर लौट आया। वह कुछ सोच रहा था।

भूखे पेट वह मटर चबा डालने से कुछ तकलीफ़ तो ज़रूर

हुई, यानी पेट में बड़े जोर का दर्द उठा, जिससे वह घोड़े की तरह पैर फटकारने लगा। उसने अपने को धुनकर रख दिया, पर भूख हमेशा की तरह अन्दर कीड़े के समान कुतरती रही। मनोहर समझ न सका कि किस प्रकार वह इस भूख को एक तेज़ छूरी लेकर पेट चीर कर हमेशा के लिए हटा दे।

वह अभी ज़मींदार के यहाँ से ईंटे चढ़ाकर आया है। इस आशा से कि कुछ ताँबे के सिक्के मिल जायंगे जिनसे वह कुछ लेकर खायेगा। थोड़े से भी पैसे मिल जाते तो फिर चबेना और गुड़ लेकर ही पेट भर लेता। ईश्वर ने जब एक खाली ढोल बनाया है तब उसमें भरने के लिए भी कुछ न कुछ चाहिए ही। कुछ नहीं तो पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े लेकर ही पानी के सहारे निगल जाऊँ तो कुछ तो मालूम होगा ही। इस भाड़ में घुसकर जो कीड़ा अपने नुकीले दाँतों से उसे कुतर रहा है...........उसे तो दबा देंगे वे निगले हुए पत्थर !

मनोहर रात भर बँसवारी में पड़ा करवटें बदलता रहा। उसे नींद न आई। शरीर टूट रहा था, थकान से चूर था। उसका पिछला दिन दूसरे गाँवों में मजदूरी ढूंढने में बीता था। तो भी क्या ?......थोड़े से चने और एक डला नमक भी मिल जाता तो कुछ भूख मरती ! उसने प्रश्न किया—'भूख मरती ?' उसे विश्वास नहीं हुआ कि भूख कभी कम भी हो सकती है। रात हो गई और वह आकर उस बँसवारी में लेट रहा जहाँ बचपन में वह दौड़ता था और आज अपना एक झोपड़ा न होने से सोता है।

बँसवारी में वह अधमरा-सा लेट रहा। उसकी आँखों में नींद न थी, वह जागता पड़ा रहा, सपनों का भोजन करता हुआ—सुबह वह ऐसे देश में जायगा जहाँ पैसे—हुँः, कैसे ओछे हो ?—रुपये और अश-

फ़ियाँ डालों में फलती होंगी। सेब, अंगूर वग़ैरह जमीन पर महुए की तरह बिछे होंगे। मक्खन लगी हुई रोटी के टुकड़े...कितने नीचे...सिर्फ पाँच फुट ऊँचे पेड़ में होंगे... और जो चाहे उन्हें तोड़ कर खा ले। फल लगे हैं... खाने के लिए ही, नहीं तो क्या देखने को हैं? मालिक मुझे खाने को बहुत कहेगा, पर मैं खा न सकूँगा। मुझे भूख नहीं है।

उसने पीपल के कुछ गोदे खाये थे। वह फिर अपने पर हँसा और उसने जैसे अपने को समझाने के लिए कहा--भूख में सपने भी कैसे आते हैं भाई! पर चुप, चुप मुझे ये सब बेवक़ूफ़ी की बातें पसन्द नहीं हैं। कैसे गधे हो?...

उसी हालत में पड़ा-पड़ा वह चौकीदार का पहरा सुनता रहा। उसे कब झपकी आ गई, वह नहीं जानता।

मनोहर जब सोकर उठा, धूप फैल चुकी थी। लोग अपने हँड़िया-पुरवा लेकर गाँव छोड़कर शहर जा रहे थे। भयानक अकाल पड़ा हुआ था। सभी दाने-दाने को मोहताज थे। कुछ लोग मनोहर के बगल से भी गुज़रे और उन्होंने उसको चिथड़े में लिपटा और बँसवारी में पड़ा देखा। मनोहर की हालत इस वक्त बुरी हो रही थी क्योंकि पेट कुछ दानों के लिए बेताब था। मचलते पेट को बहलाने के लिए जो कुछ गोदे खा लिये गये थे वे मतली पैदा कर रहे थे। वह सोचता था—'बड़े गन्दे थे वे गोदे! कुत्तों के रौंदे हुए!' मनोहर की आँखों में आँसू आ गये। उसे क़ै नहीं हो रही थी। वह हलक़ में उँगली डाल कर क़ै कर डालना चाहता था। फिर भी उसे घबराहट न थी। वह जानता था कि मौत ऐसे ही वीभत्स साज के साथ आया करती है।

शरीर की उस गिरी हुई दशा में मनोहर को पूरा यक़ीन हो गया कि वह मरने जा रहा है। ये आँख के आगे उड़ने वाली तितलियाँ

आँख मींचने भर में न रहेंगी। एक असीम अँधेरे में न मालूम कब तक अपने भूखे पेट को धोखा देते हुए वह पड़ा रहेगा। एक घटाटोप अँधेरे की चादर उसे अपनी ठण्डी गोद में छिपा लेगी; पर फिर भी मनोहर अच्छी तरह जानता है, उस काली चादर में भी रोटी का टुकड़ा या भात हर्गिज़ न होगा। मनोहर ने एक बार फिर सोचा—'वह भी कैसा अभागा है कि उसके पास खाने को कुछ नहीं है।' पर दूसरे पल ही जैसे सोते हुए अभिमान ने जागकर कहा—'कौन कहता है, खाने को नहीं है ? हुं:, जब खाने की इच्छा ही न हो, तो ?'

और मनोहर सचमुच बड़े स्वाभाविक ढंग से हँसा।

मनोहर को फिर मरने का ध्यान आया। 'कुछ भी हो जब मरना ही है तो वह लेटे हुए नहीं, दौड़ते हुए मरेगा ! अगर वह सोते हुए मरा पाया जाय तो उसके लिए शर्म है !' उसने सहस्र क़समें गले के नीचे उतार लीं जिसमें वह किसी भी सूरत से सोते में मरा न पाया जाय। वह उठ कर खड़ा हो गया। वह कुछ दूर चला था कि किसी ने उस पर दया करके बतलाया कि ज़मींदार के यहाँ ईंटें चढ़ाने के लिए आदमियों की जरूरत है। मनोहर ने उस आदमी की आँखों में देखा और विश्वास करना चाहा कि जो कुछ वह कह रहा है, झूठ नहीं है। भूख मानव में अविश्वास का पहला बीज डालती है। मनोहर ने अविश्वास के उस संसारके पार आकर विश्वास देखना चाहा। वह आदमी किसी प्रश्न की प्रतीक्षा में खड़ा था, पर मनोहर के मुख से 'जैरामजी' भी न निकली। वह केवल खड़ा रहा। उसकी ख़ुशी का ठिकाना न था। उसे लगा कि वह भूख के परे है। फिर वह एकाएक पूरे वेग से दौड़ने लगा। सोचता जाता था—हुँः हुँः—भूख ? भूख ? भूख क्या ? भूख कोई चीज़ नहीं होती। मुझे भूख लगी ही नहीं ! हाँ,

नहीं तो क्या ! अगर किसी की खाने की तबीअत ही न हो तो कोई क्या करे ? दो रोज़ से मन ज़रा बिगड़ा हुआ है। और क्या ? इसी लिए खा नहीं रहा हूँ। हाँ, नहीं खा रहा हूँ। ज़मींदार कितना कह रहा था बेचारा, आओ मेरे साथ खाओ बड़ा एहसानमन्द हूँगा। पर तुम्हीं सोचो न ? कहाँ का एहसान कहाँ का क्या, जब किसी की खाने की मन्शा ही न हो ? मुझे बेचारे ज़मींदार को निराश करना पड़ा, पर मैं अब भूख न होने की उस दशा में करता भी क्या ? बेचारा ज़मींदार !'

उसकी आँखों में उस ज़मींदार के लिए आँसू आ गये जिसके यहाँ वह सिर्फ भूख न होने से न खा सका !

वह फिर सोचने लगा—'मेरे खाने के लिए क्या ! नहीं तो कमी काहे की ? दो-तीन रोज़ से कुछ खाने की इच्छा ही नहीं है। और क्या ? और फिर मुझे जो आनन्द बँसवारी में लेटने में मिलता है भला वह मुझे उस हालत में मिलता, अगर मैं उस बेचारे मोदी पर एहसान करने के लिए उसकी अटारी में रहता ? छिः !! ये अटारियाँ भी क्या चीज हैं, बेकार, निकम्मी, ऊटपटाँग। अटारी का मतलब सिवाय इसके क्या कि अबाबील और चमगादड़ घोंसले लगायें ? हुँः ! मुझे अटारियाँ बहुत नापसन्द हैं। बिलकुल बेकार चीज़ हैं। अटारी के नाम से मुझे क़ै होती है, तभी तो मैं दस लोगों के कहने पर भी उसमें रहना नहीं पसन्द करता। राम ! राम !!'

मनोहर फिर सोचने लगा 'कुछ भी हो भाई, कभी-कभी सपने भी बड़े अटपटे आते हैं ! है न ? उड़ा चला जा रहा हूँ, न मालूम कहाँ ! कहीं साँड़ से जा भिड़ा, कहीं बर्र का छत्ता खुद गया, कहीं पर भूत और चुड़ैल !...पर यह क्या है इन सबके ऊपर ? अलमूनियम के

कटोरे में थोड़ा सा सड़ा हुआ भात! यह यहाँ पर कैसे!...ओफ़, ये सब बातें हटाओ – कुछ काम की बात कहो—मुझे बेकार बैठकर गप्प मारने की फ़ुरसत नहीं—हाँ, तो इस वक़्त मैं ज़मीदार के यहाँ काम करने जा रहा हूँ। फिर? इसके आगे! वह मुझे चार आने पैसे तो ज़रूर देगा। इसके आगे? उसमें से एक आना तो मैं उस छोकरे को दूँगा जिसने मुझे सूअर कहा था। कितनी प्यारी गाली है यह भी? फिर मुझे वह गाली देता क्यों न, जब मैंने उसकी गोली उठा ली थी? कुछ भी हो, मुझे गाली बकनेवाले छोटे लड़के बड़े पसन्द हैं।'

मनोहर की अन्तःप्रेरणा ने उसकी ठठरियों में नया बल भर दिया। वह दौड़ता हुआ ज़मींदार के दरवाजे पर जा खड़ा हुआ।

छः घन्टे के पसीने के बाद जब मनोहर ने चार आने पैसों की आस लगाई तो थोड़ा-सा बासी खाना लाकर उसके सामने रख दिया गया। वह गुस्से से काँपने लगा और उसने पत्तल में इतने ज़ोर से लात मारी कि वह वहीं फैल गई। क्रोध तो इतना आया कि जलती आग में कूद पड़े।

मनोहर चुपचाप चला आया और पीपल के पेड़ के नीचे खड़े होकर पके गोदे बीन-बीनकर खाने लगा। वहीं उसे दो छोटे-छोटे आलू पड़े मिले। आलू बहुत छोटे थे और दोनों में काले निशान थे। 'पर फिर भी आलू है'—मनोहर ने सोचा। उसे भुने आलू खाने का बड़ा शौक़ है। मन में कल्पना उठी, 'यदि एक मोहर मुझे पड़ी मिल जाय तो क्या करूँ?' उसने बड़े विश्वास से उत्तर दिया—जैसे इसमें सोचने की कोई बात न हो और प्रश्न के दो उत्तर सम्भव ही न हों—'पन्द्रह गाड़ियाँ आलू भर लाऊँ और खूब भून-भूनकर खाया करूँ।' इस कल्पना से उसे सुख मिला।

मनोहर ने दोनों सड़े-से आलुओं को बड़ी सतर्कता से उठा लिया और अपनी फटी मिर्जई की अन्दरवाली जेब में छोड़ लिया जिसमें उसका धन कोई उससे छीन न ले जाय।

आलू मिलने के बाद उसको भूनने की समस्या आ खड़ी हुई। आग कहाँ पाई जाय? दूर पर चौधरी की चौपाल में आग सुलग रही थी।

उस वक्त चौपाल में कोई न था। खाट खाली पड़ी थी और कोने में दो गुड़गुड़े टिकाकर रखे हुए थे।

वह चुपके से चौपाल में घुस गया और उसने झटपट आलुओं को राख के भीतर गाड़ दिया। फिर चोरों की भाँति देखने लगा कि कहीं कोई आ तो नहीं रहा है! कुछ ही देर बाद बाहर खड़ाऊँ की खटपट सुन पड़ी। मनोहर ने आँख उठाई तो उस चौपाल के डरावने मालिक जग्गू महतो को पाया। मनोहर को और उसके फटे चीथड़ों को देख कर महतो को इतनी घृणा हुई कि उन्होंने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया। फिर एकाएक उनका क्रोध असंयत हो पड़ा और उन्होंने खड़ाऊँ निकालकर मनोहर को मारा। खून बहने लगा और वह भागकर बाहर निकल आया। मनोहर का ध्यान अपनी चोट पर बिलकुल न था। उसे रह-रहकर यही विचार आ रहा था कि उसके आलू छूट गये। हृदय से मानों उन खोये हुए आलुओं के लिए एक हूक निकली, पर वह कमज़ोर आवाज़ किसी को चीर न सकी, अपने में समाकर और गूँजकर रह गई।

अन्ततः जब वह उन राख में गड़े हुए आलुओं की ओर से निराश हो गया, तब उसे अपनी चोट महसूस हुई। वह घुटने मोड़ कर बैठ गया।

उसने .खून को देखा। वह एक-सा बह रहा था। मनोहर आपे में न रह सका और उसने अपनी तर्जनी मुँह में डाल ली, जिससे दर्द कुछ कम मालूम हो। उसे बेहद तिलमिलाहट हो रही थी। उसने जब अपनी उँगली बाहर निकाली तो देखा कि वह .खून में डूबी हुई है और गरम .खून बहुतायत से निकल रहा है।

मनोहर को एकाएक .खयाल आया कि वह भूख को भूलने के लिए उसी गरम बहते हुए .खून से ही खेल करे। उसने सोचा कि अब से वह गिने कि .खून की कितनी बूँदें गिरीं। ज्यादा कुछ नहीं, सिर्फ़ जरा खेल के लिए। मनबहलाव के लिए। मनोहर ने सोचा, मेरे लहू की क़ीमत ही कितनी! अगर थोड़ा-सा बहा देने से बहुत-सा मज़ा मिलता हो तो क्या बुरा है? उसने थोड़ी-सी मिट्टी की एक समाधि-सी बना ली और उस पर टपटप बूँदों को गिराते हुए वह एक, दो, तीन गिनने लगा। इकसठ तक पहुँचकर वह आगे गिनना भूल गया। वह अपने पर हँसा—'सिर्फ इकसठ ही!' और दूसरे ही क्षण फिर आगे की गिनतियाँ गिनने लगा।

इस खेल के .खतम हो जाने के बाद उसने बहते हुए लहू से शक्लें बनानी शुरू कीं...

जब तक वह अपने में भूला हुआ उस बहते हुए खून से चित्रकारी कर रहा था काफ़ी .खून निकल चुका था। उसे कमजोरी महसूस होने लगी। उसका सिर एक ओर को लटकने-सा लगा। पर दूसरे ही क्षण मनोहर उछल पड़ा, मानों पैर-तले चिनगारी पड़ गई हो। वह उठकर खड़ा हो गया और घाव में मुँह लगाकर .खून पीने लगा। उसने बकना शुरू किया—'अभागे को मौत भी नहीं आती...मेरा आलू छीनकर...काश, उसे मालूम होता कि मैं मरने के कितने किनारे आ

लगा हूँ . . .शायद उसका मन खड़ाऊँ उठाने की गवाही न दे सकता... पर उसे क्या मालूम और ज़रूरत भी क्या...उसने तो खींच कर मार ही दिया. .और यह ख़ून ?...इनको आख़िरी बूँदें जानो, हा ईश्वर. . हुँः ईश्वर ! ईश्वर ?. .ढोंग का पुतला, हाँ-हाँ ढोंग का पुतला !. . एक जानवर जो ऊपर बैठता है और अपनी बुराइयाँ छुपाने में जिसे कमाल हासिल है...काश, वह ज़मीन पर होता तो मैं जी भरकर देखता कि वह भी किसी जेल में, क़ैदी की काली पोशाक में, चक्की चलाता हुआ कीड़े की मौत मर रहा है...।'

मनोहर हँसने लगा, 'आ हा हा हा !...तब उसे भी भाव मालूम होता...आटे-दाल का...लोग उसे कहते हैं न्यायी......कैसा व्यंग है !!'

मनोहर क पास सोचने को बहुत है; पर कमज़ोरी उसकी आँखों को मूँद रही है। आँख मींचते-मींचते उसने ऊपर की ओर मुँह कर जैसे ईश्वर पर थूक दिया। उसके मुँह से फिर ये शब्द निकले—'अभागे ने मेरा आलू छीन लिया।' बेताबी की उस हालत में, उसने लाचार होकर अपने चीथड़ों पर थूक लिया। वह लस्त होकर गिर पड़ा और वहीं सो गया।

जब वह सोकर उठा, उसका मन भारी था और साँझ घिर-सी आई थी।

उसका पराजित मन सोचने लगा कि अगर वह भिखमंगा ही हो जाय तो क्या बुरा है ? शक़्ल तो यूँ ही भिखमंगों की है।

वह एक फूटी हँड़िया ढूँढ़ने निकल पड़ा जिसमें वह गेहूँ और चावल के टूटे और अनटूटे कन सँजोकर रक्खेगा।

पहले दरवाजे वह माँगने चला। उसकी ज़बान ही न खुली और

वह बिना पुकारे आगे के दरवाजे पर बढ़ गया; उसने कम-से-कम उस दरवाजे पर पुकारने का पक्का इरादा किया।

उसके सारे अस्तित्व को कुचल कर एक मरा-सा शब्द निकला—'बाबूजी !'......

उतनी धीमी आवाज़ पर कोई न निकला। उसने और ज़ोर से पुकारा—'बाबूजी !'

पर दूसरे ही क्षण इस आशंका से कि उसकी आवाज़ को सुन कर कोई निकल आयेगा, तो वह क्या कहेगा, उसने एकदम भाग जाना चाहा। वह अपने भिखमंगेपन पर हँसा। फिर दरवाज़ा छोड़ भाग निकला और बहुत दूर जाकर साँस ली। उसने हँड़िया को ज़ोर से पटक दिया - उसके कर्मशील स्वाभिमान को उसके भिखमंगे बनने पर विश्वास न आया। उसे उन लोगों पर घृणा हुई जो भीख माँगते हैं।

जब अँधियारी पूरी तरह छा गई तो वह अपनी बँसवारी की ओर बढ़ा।

रास्ते में उसका कोई पुराना परिचित मिल गया।

उसने पूछा—'कहो भाई ? क्या हाल है ? तुम तो दीखते भी नहीं ? इतने उखड़े-उखड़े क्यों हो ?'

इसका उत्तर मनोहर ने नहीं, मनोहर के पागलपन ने मुक्त-हास्य करते हुए दिया—तुम अपनी कहो ? मुझे तो फ़ुरसत ही नहीं मिलती। कहीं इसके यहाँ का नेवता, कहीं उसके यहाँ का !..पूछने की क्या बात है ? अभी ज़मींदार के यहाँ से लौट रहा हूँ। क्या करूँ खिलाये बिना मानता ही न था। फिर तो वह सोलहो मोहनभोग आये

कि क्या बताऊँ! पूरी, तरकारी, मिठाई, चटनी, नमकीन, फल सब कुछ। पर मैं खा सकूँ तब न? सब रखा रह गया, पर मैं खा ही न पाया।' मनोहर इस समय प्रसन्न था।

इसके बाद मनोहर और उसके साथी ने एक स्थान पर पहुँच कर चिलम सुलगाई।

चिलम मनोहर के हाथ में देते हुए, उसके साथी ने कहा—'लगाओ दम, भैया। जिन्दगानी तो जिन्दगानी है। कटै जायगी। पर ऐसा दिन कभी देखा था!'

मनोहर ने चिलम का दम लगाते हुए और फैली हुई अँधियारी की तरफ़ देखकर मानों साथी के कथन के तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा—'कहो भैया, क्या एक चिलम तमाखू में भी बिहान न होगा?—होगा जरूर होगा। रोज-रोज अँधियारी थोड़े ही रहैगी। भगवान् हमारा भी तो है। जिन्दगानी भी है अजब चीज।' और वह गाने लगा—

झीनी झीनी रे बीनी चदरिया।
हाँ रे झीनी झीनी रे बीनी चदरिया॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी
हाँ दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया,
हाँ ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

वह राह नहीं

जिस समय उनकी यह पहली बेटी हुई थी, श्रीवल्लभ के यहाँ घी-दूध की नदियाँ बहती थीं। इसी से, सगुन बिगड़ने पर भी उन्होंने अपनी नवजात कन्या का स्वागत बड़े उछाह से नीहारिका जैसे तरल नाम के साथ किया था। तब से तो फिर जब से आमदनी घट कर दो सौ पर आ गई, श्रीवल्लभ ने अपनी बढ़ती हुई लड़की का नाम भी घटा कर नीरू कर दिया था।

इसी से जब सुरेन अन्दर आया, श्रीवल्लभ ने आवाज़ दी—'नीरू, सुरेन' और कहने के साथ ही एक सुन्दर युवती, अन्दर को खुलनेवाले दरवाजे में दीख पड़ी। युवती की उम्र अठारह के आस-पास जान पड़ती है। गोरा छरहरा बदन, कुछ-कुछ स्थिर-सी आँखें, सँवारे हुए बाल और आसमानी रंग की जार्जेट की साड़ी।

सिर का आँचल ठीक करते हुए उसने नमस्ते की और सुरीली

आवाज़ में कहा—'सुरेन भैया, बाबूजी को अकेले में काम करने दीजिए। आइये हम अपने कमरे में चलें।'

सुरेन नीहारिका का कोई होता-जाता नहीं; यह तो उसका पुकारने का ढंग है। कारण सुरेन नीहारिका से छः-सात साल बड़ा है। सुरेन लड़का है श्रीवल्लभ के अनन्य दोस्त सुरेशचन्द्र का, जो स्वयं आज नहीं हैं और इस तरह सुरेन अपने पिता का प्रतीक बन गया है। सुरेन का बी० ए० तक का अध्ययन तो पिता की छाया में हुआ और उसके बाद के दिनों में जो छाया उसे मिली है, वह और भी गहन तो है, बहुत शीतल, बहुत स्वर्गिक, पर वह साथ ही कुछ जवाब-देहियों का सृजन करती है। कहना न होगा, वह छाया किसकी थी। अपने पिता की मृत्यु के बाद सुरेन ने दो विषयों में एम० ए० किया, अंग्रेजी और दर्शन। साधारण सम्पन्न गृहस्थी थी। जो कुछ रुपया सुरेन के पिता छोड़ गए थे, उसमें से कुछ सुरेन की चार साल की पढ़ाई में लगा और जो दस-पाँच हज़ार की रकम शेष है, उस पर धींगामस्ती नहीं की जा सकती। आख़िर एक छोटी बहिन शादी करने के निमित्त है। सुरेन कुछ दिन इस टोह में रहा कि कुछ अच्छा काम मिल जाय, लेकिन अब ऐसी कोई आशा न रही तो एक स्थानीय इण्टरमीडिएट कालेज में सौ रुपया मासिक पर मास्टर हो रहा। साथ ही, आमदनी का एक छोटा-मोटा जरिया इम्तहान की कापियाँ थीं।

इस तरह नीहारिका के यहाँ सुरेन का आना-जाना अक्सर लगा रहता। उसकी तबीअत विशेष अनमनी हुई और वह चला आया इनके यहाँ और तब यदि सब नहीं तो कोई न कोई जरूर मिल जाता। श्रीवल्लभ से बात करने के लिए उसके पास दर्शन की उलझनें थीं, नीहारिका की वृद्धा चाची से भगवत् सुमिरन छेड़ सकता था और

स्वयं नीहारिका तो सभी बातो पर भली तरह बात कर सकती थी और यों कभी-कभी वह सुरेन के सामने अपनी तर्कशास्त्र की परेशानियाँ भी रखती, जिन्हे सुलझाने में सुरेन विशेष रस लेता है। नीहारिका इस साल इण्टरमीडिएट का इम्तहान देगी। सुरेन की बहन प्रियम्बदा भी उसके साथ है यद्यपि वह उम्र में उससे दो साल कम है। सुरेन दोनो की पढ़ाई का विशेष ध्यान रखता है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं। दोनो के विषय एक ही हैं। इसलिए नीहारिका कभी प्रियम्बदा को अपने ही यहाँ बुला लेती है और कभी खुद उसके यहाँ चली जाती है। दोनों में बहुत बनती भी है, इस कारण यह कहना कि उनके बीच केवल स्कूली विषयो पर बातचीत होती होगी, भूल नहीं तो और क्या है।

२

श्रीवल्लभ को वकालत से मुहब्बत नहीं है। अपना, अपनी विधवा भावज का और नीहारिका का पेट चलाना है, तन ढाँकना है, इसलिए जुतना हो पड़ता है। नगर में टीम-टाम बनाए रखना है, इसलिए थोड़ा और। नीहारिका को मौके-बे-मौके नयी चलन की चूड़ियाँ, चौड़े किनारे की साड़ियाँ, सौन्दर्य के छोटे-मोटे अनेक प्रसाधन, सभी जुटाना पड़ता है, इसलिए थोड़ा और। गलती नीहारिका की भी रंचमात्र इसमें नहीं है। जब सौन्दर्य दिया, तो उसे सजाने के साधन ढूँढ़ने वह और कहाँ जाय? कोई मन से गुलाब को मुरझाने नहीं देता। औसत लड़की है, बड़े लोगों में उठती बैठती है, सबकी आँखें उसके गौर वर्ण, उसकी सघनश्याम केशराशि, उसके सादे और असाधारण आकर्षक मुखड़े पर जमती हैं, नई उमर है, पहनने-ओढ़ने का शौक है—इससे ज़्यादा औचित्य और चाहिए ही क्या। फिर, श्रीवल्लभ बहुत उदार हैं।

श्रीवल्लभ जैसा उदार और सुसंस्कृत वृत्तियों का मनुष्य अगर गहराइयों और तथ्यों में डूबना चाहता है तो इसलिए कि वह और कुछ नहीं कर सकता। श्रीवल्लभ सुरेन को बहुत पसन्द करता है क्योंकि विवाद में मितभाषी होने के साथ ही वह मिष्टभाषी भी है। उसका मनन भी अपना है। सुरेन में वह सबसे ज्यादा जिस चीज की ओर खिंचता है, वह है सत्र का उसका निर्भीक कथन। इसलिए अकसर शाम को बातचीत शुरू होने पर जब तक कई पहर रात न चली जाय, चाय के अनेक दौर न हो जायँ, दो-एक बार कुर्सियाँ न बदल ली जायँ, दोनों को एक समान ही मानो अपनी अपूर्णता ही काटती रहती है। नीहारिका को ये विवाद कुछ खास अच्छे नहीं मालूम होते, पर बातचीत के दौरान में वह कई बार झाँक जाती है—चंचल प्रकृति; इससे अगर श्रीवल्लभ एक हरीतिमा महसूस करता है तो सुरेन एक पुलक। विशेष कुछ नहीं। कुछ भी हो नीहारिका का यों झाँक-झाँक जाना सुरेन को सुहाना जरूर मालूम पड़ता है।

× × ×

श्रीवल्लभ का उस पर स्नेह और नीहारिका की ओर उसका औत्सुक्य दोनों ही सुरेन के मेल-मिलाप में वृद्धि करते रहे।

कुछ दिन बीत गये।

और दिन के साथ ही सुरेन की घनिष्ठता भी काफी बढ़ गयी। उसके ज्यादा आने-जाने और मेल-जोल को देखकर मुहल्ले-टोले वाले कुछ अनवस्थित से हुए। कुछ बुड्ढों ने उँगलियाँ उठाईं, कुछ बूढ़ियों ने दाँत तले उँगली देकर कलजुग और नई शिक्षा-दीक्षा का मुँह काला किया, कुछ मनचलों ने अपनी भाषा में अपना सन्देह प्रकट किया और सुरेन की किस्मत पर रीझे। लेकिन जिस तरह यह

बात सुरेन को बिलकुल न छू सकी ठीक उसी तरह श्रीवल्लभ ने भी एक हार्दिक मुसकान के साथ यही कहा कि लोगों की बड़ी संख्या सन्देह की ही घाटी में साँस लेना जानती है। उनकी भवों में बल नहीं आ सकता था क्योंकि वे दोनों ही भरोसेदार ज़मीन पर खड़े थे।

और भी कुछ दिन बीत गये। नीहारिका और प्रियम्वदा दोनों ही परीक्षा में पास हो गईं। गरमियों में सुरेन माँ और बहिन को लेकर हरिद्वार चला गया। माँ की ऐसी इच्छा थी।

यहाँ पहुँचने पर नीहारिका के खत समान रूप से प्रियम्वदा और सुरेन के पास आते रहे। सुरेन के खतों में नीहारिका बड़े मृदु विनीत भाव से उसके प्रति अपना आभार प्रकट करती और श्रद्धाञ्जलियाँ भेजती। सुरेन भी उतने ही अबोध रूप में अपनी अयोग्यता की दुहाई देता, नीहारिका और उसके पिता के प्रति अपने को आभार-नत मानता—और इतना ही क्यों, एक खत में तो वह उन्मादवश यहाँ तक लिख गया कि उसके जीवन में जो थोड़ा-बहुत प्रकाश है, उसकी देनेवाली नीहारिका ही है !

सुरेन लिखने को लिख तो गया, पर उसे डर बना रहा कि नीहारिका इसका मतलब कहीं उल्टा न लगा ले। अंततः जब उसका उत्तर आया तो वही उसकी घबराहट को मेट सका और तब मिली उसे आश्वस्ति। पत्र की धारा न सिर्फ और भी तरल और सहृदयता-पूर्ण थी, बल्कि उसमें उसने अपने को पहिली बार स्वतन्त्रता से व्यक्त किया था; और नीहारिका की चोली के भीतर के स्पन्दन की जो पहिली झाँकी उसे मिली, उससे उसकी तृष्णा पछाड़ें खाने लगी। एक जो अस्पष्ट लालसा उसके अन्दर दुबकी पड़ी थी, उसे अब ठीक मुद्रा मिल गई।

उस मुहूर्त में उसने अपने को कितना सुखी माना, यह आँकना कठिन जान पड़ा, इसलिए वह घूमते हुए मस्तिष्क से उत्तर में सिर्फ ये असंगत पंक्तियाँ लिख सका—

नीहारिका !

तुम्हारा खत मिला। कारणवश कुछ भी लिख सकने में अशक्त हूँ। पूरे ब्योरे के साथ फिर लिखूँगा। शुभाकांक्षाएँ

विनीत,

सुरेन।'

खत लिखने के साथ ही सुरेन की माँ बीमार पड़ गई। उन्हीं की बीमारदारी में दोनों, प्रियम्बदा और सुरेन लगे, रहे।

सुरेन का ऐसा अनिश्चित-सा पत्र पाकर कोई क्या चुप बैठ सकता था जो नीहारिका ही चुप बैठती। कुछ दिन उसने सुरेन के विस्तृत पत्र की प्रतीक्षा की, आखिर उसी पर उसका सारा दारोमदार था—और खासकर जब उसने अपनी ओर से बात आरम्भ करने की भूल कर ही डाली। सुरेन का खत पाकर उसकी मायूसी में वृद्धि ही हुई। सान्त्वना या आश्वास्त देने वाली बात तो उसमें एक भी न थी। अब सारी आशा टिकी थी अगले पत्र पर—वही चाहे तो उसे मेट भी सकता है और बना भी। प्रणय की पहिली भिक्षा कहीं उसने अनुपयुक्त व्यक्ति से तो नहीं माँग ली है, जो कृपण हो, जो न गलने-वाले मसाले का बना हो—यह पुलक, यह सिहरन, इनका अन्त भी होगा? होगा क्यों नहीं? सुरेन सहृदय है। मैं इतनी गलत नहीं हो सकती। वे उत्तर देंगे ही और दूसरा कुछ कह भी नहीं सकेंगे। पर मात्रा से अधिक उनका संकोच, विनय? प्रथम प्रणय की सारी चुभन उसे बेध रही थी।

उसने फिर लिखा और कारुणिक रूप में अपने उद्वेग की चर्चा की—'आपको दूसरे की बेचैनी का ख्याल तो करना चाहिए!'

सुरेन जवाब न दे पाया। माँ बीमार थी। नीहारिका ने तब एक पत्र अलग से प्रियम्बदा को डाला।

प्रियम्बदा के उत्तर से कुछ आश्वस्ति हुई—'माँ बीमार हैं। हम और भैया दोनों ही रात की रात जग रहे हैं। माँ की हालत तो काफी बिगड़ चुकी थी पर अब भली है।'

३

माँ के ठीक होते ही सुरेन सब को लेकर लखनऊ पहुँच गया। दूसरे दिन शाम को जब अपने पत्र की जगह सुरेन स्वयं, पर प्रियम्बदा को साथ लेकर, नीहारिका से मिला, तो एक मृदु 'नमस्ते' छोड़ नीहारिका कुछ न कह सकी, कुछ तो भावनाओं का ज्वार और कुछ प्रियम्बदा की उपस्थिति। यह सच है कि उसकी निगूढ़तम बात भी प्रियम्बदा से छिपी नहीं है, पर इससे क्या वह उसके सामने ही प्रणया-लाप कर सकती है और सो भी उसी के बड़े भाई से? तभी बड़े कौशल से उसने सुरेश को साधारण से नमस्ते कर किसी को थाह भी न लगने दी। पर जब वह प्रियम्बदा का आलिंगन कर रही थी, उसका दिमाग अजीब बातों से भर उठा था। वह ठीक तौर भेंट भी न कर सकी, उसका पूरे अनुराग से स्वागत भी न कर सकी। सोच रही थी—इसे क्या कहूँ? जान पड़ता है मुझसे, मेरे प्रश्नों से बचने ही के लिए बहिन को संग लिवाते आये हैं। कुछ समझ नहीं पड़ता। उसे इतनी साधारण बात नहीं समझ में आ रही थी कि छुट्टियों के बाद उनका पहिला मिलना है, प्रियम्बदा का आना भी जरूरी था।

दूसरे दिन सुरेन को अकेला पाकर नीहारिका ने अचकचा कर

कहा—'चलो, आप से मुलाकात हुई तो ? मैं तो सारी आस छोड़ ही चुकी थी।'

सुरेन ने सफाई पेश करने के से लहजे में कहा—'क्यों ?'

नीहारिका ने कहा—'यों ही। कहिये हरिद्वार में कैसे रहे ? जगह तो ठंढी है ?'

सुरेन ने भी उसी तरह उत्तर दिया—'हाँ, जगह मामूली अच्छी है। लेकिन, मेरी दशा तो उन मियां जी सी हो गई न जो गए थे रोज़ा खोलने और नमाज़ को गले लगाये चले आये। ज्यादा अरसे तक तो मां बीमार ही रहीं—' इसके बाद सुरेन न जाने कहाँ से दृढ़ता उधार लेकर कविता की भाषा में कह गया, उसे स्वयं अचरज हुआ,—'लेकिन जो कुछ भी तकलीफ़ थी, उसे तुम्हारे खत दूर करते रहते थे। मैं नहीं बयान कर सकता कि तुम्हारे पत्रों से मुझे कितनी राहत मिली है। यकीन मानो, नीहारिका, कि उन्हीं खतों की हरियाली ने मुझे हरा कर दिया . ...'

नीहारिका पहले तो बहुत चौंकी—सुरेन ऐसी अभिव्यक्ति भी भला कर सकता है, आश्चर्य ! यह आदमी जो इतना मितभाषी है कि बोलते हुए डरता है, कि कहीं मन की बात बाहर न आ जाय—ऐसा सुरेन क्या इन उन्मुक्त भावनाओं का भी बंदी हो सकता है ? नीहारिका के चौंकने का एक कारण और भी था, सुरेन ने पहले-पहल उसे 'तुम' पुकारा था।

सुरेन ने यह दूसरी गलती की, पहली गलती पत्र लिख कर की थी। लेकिन जिस तरह उस बार उसे शास्ति-दंड तो दूर, और भी जीवनी शक्ति मिली थी, उसी तरह शायद इस बार भी। नीहारिका चौंकने के साथ ही, गई लजा—गुलाबी गाल लाल हो गए, होठों में

ज़रा-सी फड़कन हुई, आँखें चेष्टा करने पर भी अस्थिर हो गईं, और पतला-सा, दो सोने की चूड़ियों वाला हाथ बरबस सिर पर की साड़ी ठीक करने लगा। सुरेन निहार रहा था, कुछ तो नीहारिका के हृदय का स्पन्दन, (जिसका क्षीण अन्दाजा नीहारिका की साड़ी की उठती-गिरती परतों से लग रहा था) और कुछ अपनी उद्दंडता और अनौचित्य और अनधिकार चेष्टा, जब नीहारिका ने अत्यन्त कोमल अस्फुट स्वर में कहा—'माठी बातें कोई आप से सुन ले...' और आँखें जो धरती से उठाईं व्यक्ति पर, तो वे जा टकराईं अपने से ही दो पहरुओं से—सुरेन अनेक क्षणों से उस पर अपलक दृष्टि जमाए हुए था।

सुरेन एकाएक यह नहीं तय कर पाया कि नीहारिका के वाक्य का वह क्या मतलब ले। पर यह समझते उसे देर नहीं लगी कि उलाहने का इशारा नीहारिका के पत्र की ओर है। लेकिन इसके पहले कि वह अपनी कुछ सफ़ाई पेश करे या कहे कि अब तो वह स्वय मूर्तिमान उत्तर बनकर आ गया है, नीहारिका अपना लजाया गात लेकर अन्दर चली गई थी।

सुरेन ने आँख उठा कर देखा कि अगले दरवाजे का वेलवेटी पर्दा हिल रहा है।

४

नीहारिका ठहरी श्रीवल्लभ की अकेली लड़की। और सो भी श्रीवल्लभ सा आदमी। इसलिए जब नीहारिका ने अपना मंतव्य बतलाया कि वह बी० ए० भी कर लेना चाहती है, तो श्रीवल्लभ को किसी प्रकार का उज्र कैसे हो सकता था।

इस तरह करके छः मास या कुछ ज्यादा और निकल गये।

इस बीच सुरेन किन घाटियों और तराइयों के बीच से गुज़र रहा

है, इसे उचित शक्ल में सामने रखना मुश्किल है, लेकिन नीहारिका को वह एकदम सहज-सुगम रूप में ले सका हो, सो बात नहीं है। नीहारिका के लिए उसके अन्दर एक नरम तल है, इससे इसमें कोई फ़र्क नहीं पडता कि वह एक बड़े प्रश्नसूचक चिन्ह या गुत्थी की शक्ल में सामने आई है। प्रकृतिवश जितना ही उसने वैज्ञानिक रूप में इसे सुलझाना चाहा है स्नेह की झिलमिल चादर ने उसे ऐसा करने से उतना ही नाकाम कर दिया है और एक अप्रत्याशित आकर्षण की डोर उसे जकड़ती रही है। पर पहला उन्माद भी उसे उखाड़कर बहा ले गया हो, सो नहीं है। शायद इसी कारण अब तक वह अपने को पूर्ण समर्पण नहीं कर पाया है और शायद इसी कारण वह स्वयं अपने से इस बात को स्वीकार नहीं करता कि नीहारिका उसके खास लगाव की पात्री भी है। 'होगा' सुरेन कहता।

क्लबों वगैरह में, मित्रों में जब कभी नीहारिका की तरफ इशारा किया जाता तो अपनी अनगढ़ चुप्पी से वह बात को मर जाने देता, क्योंकि सुरेन को प्रेम का ज्वार भी उत्तरदायित्वहीन नहीं बना सका है। विशेषकर जब वह स्वयं निश्चित नहीं है, तो एक भद्र ललना को ऐसे गली-कूचों में घसीटना उसे अप्रीतिकर लगता।

पर परिस्थिति को देख सवाल करने वालों की कमी तो नहीं थी। यही नहीं, कभी कभी सुरेन स्वयं आश्चर्य करता कि श्रीवल्लभ ने जो उसे इतनी आज़ादी दे रखी है, क्या बिलकुल योंही? वह इसे बाबूजी का अटूट स्नेह कह कर टाल देता, लेकिन यह मानकर भी कि वह उसे नीहारिका के पास आने देना चाहते हैं, उसे दुःख न होता। मन ही मन वह श्रीवल्लभ की उदारता की सराहना करता, वह उदारता जो परस्पर खींचकर दो व्यक्तियों को एक में मिल जाने का अवसर देती

है और संभवतः श्रीवल्लभ भी आश्वस्त हो चुके थे कि उनकी उदारता का नाजायज़ फ़ायदा उठाये, सुरेन ऐसा नहीं है और अगर इस सब का अन्त होना है तो सुखद ही होगा। मुमकिन है कल्पना में उन्होंने दोनों को एक ही रज्जु में बाँध भी दिया हो। पर यह परिज्ञान पूर्ण चेतना के स्तर पर नहीं था।

एक बार कार्निवल आया हुआ था। नीहारिका ने सुरेन से कहा कि वह भी जाना चाहती है। सुरेन ने आह्लाद के साथ उसकी बात का समर्थन किया और नीहारिका को लेकर कार्निवल पहुँचा। यहाँ तक तो ठीक है, पर इसके बाद का इतिहास उतना सुखकर नहीं है। मुलाकात सुरेन के दोस्तों से भी हुई और नीहारिका की दोस्तनियों से भी। और सुरेन ने कोई भूल नहीं की अगर नीहारिका से भी उसी सौम्यता की आशा की जिस सौम्यता से उसने अपने मित्रों के उथले और कुछ अंशों में अभद्र इंगितों को झेला था। नीहारिका को अपनी सखियों की ओर वैसा ही न बरतते देख उसे कुछ ठेस लगी, कुछ क्षोभ हुआ। पुरुष की बुराई हो सकना उतना सहज नहीं है, यह सुरेन को बतलाने की जरूरत न थी, लेकिन स्वयं नीहारिका के लिए उसे खिन्नता हुई। उसने नीहारिका की थाह ली थी और उस थाह को रंचमात्र भी झूठा पड़ता देख, उसका क्षोभ संगत था। नीहारिका ने भी इसको जाना और चुप रही।

५

यह सब तो होता ही रहता है और बरसात के पानी के साथ उगनेवाली घास के जमने-सा सब ठीक हो जाता है। पर एक गाज जो श्रीवल्लभ पर गिरी उससे सँभलने का अवकाश उन्हें न मिला।

उनकी तरी कुछ ऐसे खड्ड में जा पड़ी कि अंततः उसने सब को अपने अंदर समेट लिया।

श्रीवल्लभ जैसे अव्यावहारिक पुरुष ने सलाह-मशविरे में पड़कर कर डाला लाख का सट्टा। और सब कुछ खोकर बैठ गये। नुकसान होता रहा और वे आस लगाये उसमें पड़े घाटे पर घाटा सहते रहे जब तक कि बिलकुल अयोग्य न हो गये। दिन गाढ़े कटने लगे। और फिर मुसीबतें आती भी तो गोल बाँध कर हैं। जरूरत हुई कर्ज़ की। एक मित्र ने मदद की। मित्र की मदद से ज्यादा खतरनाक कुछ होता भी नहीं। लेकिन ज़रूरत का दबाव, गरज़। उससे भी भला कोई बचा है। श्रीवल्लभ सुरेन से इस बात को छिपाते रहे थे और कर्ज़ ले चुकने पर सुरेन को जब नीहारिका से यह बात मालूम हुई तो उसे ठेस लगी। इसलिए नहीं कि वह मदद कर ही सकता था बल्कि इसलिए कि उसे गैर समझ कर अलग रक्खा गया था।

खैर यह हुआ तो तब जब कर्ज़ लिया जा चुका था और लिखी हुई और दिमाग में नक्श शर्तों का मीज़ान भी बन चुका था। बात असल में यह थी कि श्रीवल्लभ के उन मित्र ने मदद करने के साथ यह बात स्पष्ट करने में कोई कसर न छोड़ी कि वह नीहारिका को अपने बेटे पीतम कुमार की वधू के रूप में चाहते हैं। उन दोस्त ने कोई बुरी शर्त रक्खी हो, यह भी बात नहीं। कम से कम श्रीवल्लभ उसे ऐसी शक्ल में न ले सका। कुछ दोस्ताना, कुछ मौके का दबाव। नीहारिका की शादी भी आखिर करनी ही थी, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों। लड़का भी बुरा कैसे कहा जाय, विलायत हो आया था, एक-दो उपाधियाँ भी साथ लाया था, साधारण स्वस्थ था, देखने-सुनने में भी बुरा नहीं था और पुरुष में ये गुण बारीकी से

देखे भी कब जाते हैं। घर में पैसा भी अकूत था। सब से बड़ी बात तो थी मौके का दबाव; इस बात से अनभिज्ञ न रहते हुए भी कि पीतम कुमार ने विलायत में कम मुर्गियाँ-मुर्गाबियाँ नहीं चुगाई हैं, और विलायत से लौट आने पर भी वह कुछ अक्ल साथ नहीं लाये हैं, श्रीवल्लभ ने नीहारिका से बिना पूछे जाँचे ही, स्वीकृति सी दे डाली।

बालिग लड़की नीहारिका, अपना भला-बुरा सोच सकने में समर्थ; यह जान कर उसे हुआ अपरिमित क्षोभ और एक अस्पष्ट विद्रोह। पीतम कुमार का ऊँच-नीच उससे छिपा हुआ न था, उसकी रसिक मनोवृत्ति काफ़ी स्थलों पर अपने को दरसा चुकी थी और नीहारिका उसे श्लाघ्य या श्रेयस्कर नहीं मान सकी; अपने को उसके साथ जोड़ना उसे व्यथाकारी लगा। उसने कई बार यही बात बाबू जी से कहनी भी चाही, अपनी असहमति कह डालने का साहस जुटाया लेकिन उनकी हालत देख हिम्मत न पड़ी।

एक दफ़ा उसने दबा हुआ इशारा किया भी, पर उत्तर में श्रीवल्लभ की कारुणिक मुसकराहट देख, सारी बात उसकी समझ में आ गई और अपनी भूल उसे प्रत्यक्ष हो गई। यह जानने में उसे देर न लगी कि उसके पिता ने यह प्रस्ताव, कुछ भी हो ललक कर नहीं स्वीकार किया है।

यह विश्वास कर क्षोभ के स्थान पर उसमें वेदना का उदय हुआ, पर सुलगन एक दम बन्द न हुई।

सुरेन को भी इस खबर का पता चला, झटका भी कम न लगा। बहुत बुरी तरह उसने अपने में कहीं एक रुकाव की ठेस पाई, जैसे एक वेग से बहने वाले पहाड़ी नाले की राह एक भीषण चट्टान ने

रोक ली हो और नाला आगे न बढ़ सकने पर भी, पीछे हटने में अपने को अयोग्य पाता हो।.....लेकिन सुरेन झटके झेलने जानता है।

इसलिए जब उसने बीमार श्रीवल्लभ को जाकर नमस्कार किया, बाबूजी को यह जानने में एक पल की देर नहीं हुई कि सुरेन से इतिहास बताने की वेदना का शिकार उन्हें नहीं बनना पड़ेगा। सुरेन अपनी स्थिति को गलत नहीं समझता, श्रीवल्लभ ने अपने से कहा, और कहने के साथ ही आँखों में आँसू उमड़ आये। सुरेन को आरपार दीख गया कि यह व्यक्ति आज असहाय है। उसने पूछा—'बाबूजी क्या कुछ कष्ट है?'

श्रीवल्लभ चुप रहे, पर आजादी के साथ उन्होंने एक लम्बी साँस खींची। सुरेन मन ही मन व्यथा से और भी नत हो गया, और कुछ देर बैठकर, नीहारिका से बिना मिले ही घर वापस चला गया। श्रीवल्लभ के नीहारिका को आवाज़ देने पर सुरेन ने जरूरी काम का बहाना बना दिया।

नीहारिका जब कमरे में आई सुरेन जा चुका था और बाबूजी सुरेन में ही उलझे हुए सो गये थे।

६

दूसरे दिन जब वह कालिज से घर लौटा, प्रियम्वदा ने उसे एक पुर्जा दिया और कहा—'इसे नीहारिका दीदी का छोकरा दे गया था। आप के लिए है, जरूरी।'

सुरेन ने पुर्जा लिया और देखा। सिर्फ़ एक वाक्य था कि वह सुरेन से जरूरी काम के लिए मिलना चाहती है। सुरेन बहुत अच-

कचाया और कोशिश करने पर भी किसी ऐसे जरूरी काम के बारे में न सोच सका, जिसके लिए नीहारिका उससे मिलने को आतुर हो। फिर यह सोचकर कि यों ही मिलना चाहती होगी उसने पुर्जा मोड़कर जेब में डाल लिया।

साँझ ढलते ही नीहारिका से मिलने गया और बाबूजी के कमरे को पार करता हुआ, सीधा बाज़ की तेजी से नीहारिका के कमरे में दाखिल हुआ। वहाँ उसकी हालत देखकर उसे कम आश्चर्य न हुआ। उसके आस-पास की चीजें बुरी तरह तितर-बितर थीं, गोया वे न सिर्फ बिखर गई हों बल्कि उन्हें बिखेरा गया हो। उसकी ड्रेसिंग-टेबुल के प्रसाधन अलग अस्त-व्यस्त थे। कुर्सी-मेजें भी घसीट कर इधर की उधर करके छोड़ दी गई थीं। कोई चीज़ यथास्थान न थी। किताबें अलग ही ग़दर में सो-जाग रही थीं।

और इन्हीं के बीच सो-जाग रही थी नीहारिका, सोफे पर—नागिन सी लटें खुलकर आधे माथे को छाये हुए, नीचे को झूलती हुई।

नीहारिका सो नहीं रही थी, थी लेटी हुई। जैसे सुरेन ने हाथ जोड़ 'नमस्ते' किया उसका जवाब दिया नीहारिका की सूजी हुई आँखों ने — हूँ! लेकिन उन सूजी हुई आँखों में उसने पाये न सिर्फ आँसू, बल्कि पायी एक असाधारण ज्योति, एक अनोखी चमक जिसे मौलिक रूप में नीहारिका की मानते हुए उसे हिचक हुई। आँखें सूनी नहीं हैं, कुछ कहना चाहती हैं, कह रही हैं—संभवतः आग की एक लपट जो दृढ़ता की सूचना देती है। लेकिन आँखों में आँखें डालकर तो वह जैसे समा गया। नहीं पूछ सका उस क्रान्तिमयी वेदना का कारण—वह तो सुधबुध खो उन्हीं आँखों में तब तक के लिए डूब गया, जब तक स्वयं

नीहारिका ने उसे अपने वाक्य के साथ नहीं झकझोरा—'मैंने आपको बुलाया है। कुछ ज़रूरी बात करनी है।'

जिस बात का आमुख इतना तीव्र है, वह स्वयं कैसी होगी! अपने उत्तरदायित्व के विचार से सुरेन भयाकुल हो उठा।

सुरेन ने कहा—'प्रियम्वदा ने पुर्जा दिया था। मैं ज़रूरी काम समझ जल्द से जल्द आया हूँ।'

नीहारिका ने आँचल ठीक करते हुए सार्थक ढङ्ग से कहा—'हाँ, काम जरूरी ही है। अपने विवाह के बारे में तुमसे सलाह चाहती हूँ। मुझे तो कुछ सूझ नहीं पड़ता।'

सुरेन ने कहना चाहा—'बाबूजी ने ही सब किया है, मेरी सलाह क्या हो सकती है, नीहारिका...?'

लेकिन नीहारिका जब तक ज्वार है, कहेगी ज्यादा सुनेगी कम, बहुत कम; भाटे का हाल जानने को उत्सुक वह नहीं है। बोली—'मुझे लगता है मेरे साथ अन्याय किया गया है। मैं मानती हूँ, मानने के लिए मुझे मजबूर होना पड़ता है कि अन्याय अन्याय है, चाहे वह दबाव से ही प्रेरित क्यों न हो। जानती हूँ यह तिक्त भी है विषाक्त भी, पर इसे किसी तरह से मैं झेल सकने में असमर्थ हूँ।'

सुरेन बोला—'मैं अज्ञान की दुहाई देना चाहता हूँ, नीहारिका!'

'सिर्फ दुहाई देने से अगर चलता होता, तो दुनिया आज इतनी पामाल क्यों होती, सुरेन? नहीं, तुम अज्ञान की दुहाई नहीं दे सकोगे। जहाँ तुम अपने को सहमत पाओगे वहाँ तुम हाँ कहोगे—उसे पचाकर मेरे गले पर छुरी रेतने की यदि लिप्सा हो तो दूसरी बात है! मुझे यह भी बताने की जरूरत नहीं कि मैं आज औसत नहीं हूँ। औसत में तो व्यक्ति दुःख को गले लगाता है, अन्याय की सँपीली

आँखों में आँख डालकर धन्य हो जाता है, दूसरों के साथ बैठ सम-वेदना की मदिरा ढालने को कहता है, मैं जानती हूँ। मुझे शर्म नहीं है कि मेरा क्षोभ औसत नहीं है।'

नारी एक पहेली है, सम्भवतः विधना भी उसे नहीं बूझ सकता, अपनी काया के पार चले जाने की शक्ति उसकी कितनी निविड़ है। सुरेन अपने को संयत कर कहता है—'पर नीहारिका, क्षमा करोगी, तुम अपने उद्वेग में अपने पिता जी और मुझ पर अन्याय कर रही हो।'

'—मैं ? जिससे उसकी सलाह भी न ली गई कि वह किस विला-यती बैल के साथ बाँधी जा रही है ?'

'बाबूजी ने समझा कि तुम्हें इसमें आपत्ति नहीं हो सकेगी। उन्होंने भूल सम्भवतः यही की कि अपनी ही आँख की पुतली-सी लड़की से विनत भाव की आशा की !'

नीहारिका ने बल खाकर कहा—'तुम मेरे साथ अन्याय कर रहे हो, सुरेन ?'

'क्या मैं तुम पर अन्याय करने निकलूँगा, जो कम तप्त आज नहीं हूँ। बल नहीं खाता इसी से समझती हो शान्त हूँ। मेरे पास क्षुब्ध होने को क्या कम कारण है ! बहुत परख चुकने पर जिसे अपनाया, जिसे पाने के लिये अपने को सुखाया वही छीन ली जाय, कल्पना के शिखर पर से आशा की और वहीं से ठेल दिया गया—यह गाथा क्या कम करुण है ? तुम्हीं बोलो न ?'

पर नीहारिका चुप, सिसकती रही।

सुरेन ने कहना जारी रक्खा—'मुझे अपना सन्तुलन खो देने पर मजबूर न करो, नीहारिका, मुझमें पेच-ओ-ताब की कमी नहीं है। वे

दीख नहीं पड़ते, यही मेरी बचत है : मुझ पर निर्ममता कम आघात नहीं करती, नीहारिका। पहले प्रणय के प्रति मानव का मोह बहुत होता है और सो भी जब एक नीहारिका अपने को समर्पण करने को बाहर आ गयी हो...मुझसे ज्यादा सवाल न करो, नीहार। मैं अपने से बहुत डरता हूँ, ब . हु...त!'

नीहारिका बोल उठी—'तो तुम कायर हो। आग से घबराते हो।'

सुरेन समझ नहीं सकता नीहारिका आज क्या कहना चाह रही है उसे आतंक-सा लगने लगता है जब वह कह जाता है—'मैं वैसा कायर नहीं हूँ, नीहारिका। परिणाम से भी नहीं घबराता, पर एक अबोध-निर्बोध व्यक्तित्व को अपने साथ ही हनन की भट्ठी में झोंकने से आतंक मालूम होता है।'

'तो क्यों न फिर दो क्षुब्ध व्यक्ति मिलकर समाज के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दें......विद्रोह।'

सुरेन ने प्रश्न के साथ पैर के नीचे की ज़मीन खिसकती महसूस की—'मतलब?'

नीहारिका ने सारी आकुलता को समेट कर संयम में भर लिया और कहा—'मतलब, मैंने सारी तैयारी कर डाली है। हम लोग भाग चलें। ज़रूरत अनुभव होने पर शादी के बाद पिताजी को...'

जैसे अंगारे पर पैर पड़ गया हो, सुरेन ने बीच में ही चीखकर कहा—'बस बस...' और थोड़ी देर को थका-सा चुप हो रहा। अब और वह नहीं सुन सकता। और सुन सकने की ताब उसमें नहीं है! उसकी मुद्रा में अपरिमित, घोर काठिन्य आ गया, यद्यपि चेहरा क्लांति का ही ढिंढोरा पीट रहा था। उसका चेहरा तमतमा उठा, जड़ें हिल उठीं, जब उसने कहा—'नीहारिका मैं और कुछ नहीं सुनना चाहता,

मैं अभिशप्त नहीं होना चाहता। मैं कातर नहीं हूँ। पर तुम्हारे इस प्रस्ताव ने मेरी रीढ़ बुरी तरह तोड़ दी है! तुमने अपने साथ और मेरे साथ अन्याय किया है। अब मुझे जाना ही होगा। मैं जा रहा हूँ। यद्यपि तुमसे हटकर अपनी कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। मुझे जाना ही होगा, नीहारिका। काश तुम मेरे दारुण सन्ताप का एक ज़र्रा भी अपना पातीं! मैं आज चला जाऊँगा। मैं कातर हूँ।'

सुरेन दरवाज़े की ओर बढ़ा। फिर जैसे एकाएक उसे कोई भूली बात याद आ गयी हो, रुकता हुआ, रोष के साथ बोला—'तुम्हारे इस प्रस्ताव के नैतिक पक्ष पर बोलने के लिए या तुम्हें लांछित-प्रताड़ित करने के लिए अभी न मुझमें क्षमता है, न इतनी उदारता ही और न ही इतना भरोसा और न ऐसा बांध जो मेरी उमड़न को सीमित कर दे। और न इतना अलगाव। प्लावन के बीच मुझे स्वयं टेक के लिए जमीन चाहिए, तुम्हारे ऊपर कुछ कह सकूँ, इतना शक्तिशाली मैं नहीं हूँ! पर तुमको इस वक्त भी सारे जोश के साथ सुनाना चाहता हूँ कि जिसे तुमने भूल से विद्रोह की संज्ञा दी है, वह विद्रोह नहीं है, विशृंखला है। ऐसे विद्रोह से समाज अपने अन्याय और वैषम्य में दृढ़ता पाता है, ढहता नहीं। इसकी मूठ अपने ही सिर पर गिरती है। एक बात और। तुम मानोगी, नीहारिका, कि समाज एक बिजली के सञ्चालन का नाम है। हम .खुद तो कुरबान हो सकते हैं? लेकिन ऐसी अनर्गल प्रेरणा से सारे समाज को 'शार्ट-सरकिट' करने का अधिकार हमें-तुम्हें किसी को नहीं मिला हुआ है। तुम यही करने के लिए मुझे कहती हो। पर मैं तुमसे एक सवाल पूछना चाहता हूँ। क्या तुम सारे आपत-विपत के बीच, सबके विरुद्ध मुझसे शादी करने को तैयार हो? जिसमें तुम मुझे आगे चलकर कातर न पुकार सको, इसलिए मैं कह

दूँ कि मैं हूँ। मैं उस सूरत में चाहे जिसके ख़िलाफ़ बग़ावत कर सकूँगा। बोलो....?

नीहारिका ने असहाय होकर सिर झुका लिया और कुछ कहना चाहा...

सुरेन अपने आवेश को रोक नहीं सका, 'नीहारिका, इसी पर था सारा दारोमदार। तुम साथ नहीं आ सकीं। अब मुझे बेदर्दी छोड़ दूसरा चारा नहीं है। मुझे यह भी बतलाने की जरूरत नहीं है कि कुल्हाड़े का वार मुझ पर रत्ती मात्र भी कम नहीं है। मुझसे ज़्यादा इसे कौन जान सकता है। पर अब बोलने को मन नहीं करता। लगता है तेलहन की जगह किसी ने मुझे ही चक्की में डाल दिया है। मैं आज ही चला जाऊँगा और फिर तुम्हारे हाथ का ही खत मुझे वापिस कर सकेगा, जब तुम्हारी भूल का परिज्ञान मुझे माफ़ कर देगा और तुम मुझे दुतकारना न चाहोगी। नीहारिका यह मेरा दैन्य बोल रहा है, अहंकार नहीं। मैं स्वयं अपने को निर्वासित कर आज चला जाऊँगा, पर उस सारी आभा, ज्योति, प्रकाश और हरीतिमा के लिए तुम्हारा आभार मानकर मैं उसे कम नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ, मैं आत्म-हनन कर रहा हूँ।'

नीहारिका ने जब धरती में गड़ी हुई आँखें ऊपर उठाईं, सुरेन चला जा रहा था। नीहारिका ने ग़श की हालत में देखा सुरेन को पार करते पहला कमरा—ड्राइङ्ग रूम—बरामदा। नीहारिका ने एक बार दबी आवाज़ से पुकारा भी 'सुरेन', पर पुकार निस्तब्धता का ही अंग बन रह गयी।

जब तक सुरेन कराह की अतुल राशि बना दीखता रहा, नीहारिका उसे एकटक निहारती रही। पर जब आँख के नगीने में वह आकृति

बुझ चली, नीहारिका ने महसूस किया कि वही चीज़ अब उसके अन्दर के नगीने में नक्श हो चली है।

और उसके एकदम ओझल हो जाने पर वह अपनी उलझी पलकों में से झाँकते मन को असहाय छोड़ बेहोश होकर कोच में गिर पड़ी......

असलियत की रोशनी में

यह शहर का एक अँधेरा कोना है जिसे संसार अपने से अलग रखता है और इसमें अपना क्षेम मानता है। अँधेरा पर वासना के प्रकाश से जगमग। उस सुनहले-रुपहले मादक प्रकाश से लिप्सा झाँकती है, झाँक-झाँक कर इठलाती है, कनखियाँ मारती है। यहाँ के बाजार में दिन को सियापा छाया रहता है और रात को उद्दाम प्रकाश। यह चन्द्र की ज्योत्स्ना नहीं, क्योंकि यह उस शारदीय शीतलता से वंचित है, जुगनू का क्षणिक प्रकाश भी नहीं, क्योंकि यहाँ के निवासियों का यह क्षणिक आवेश नहीं, प्रति रात्रि की चर्या है। और भी यह क्षणिक इसलिए नहीं, क्योंकि इसी में यहाँ के लोग मुक्ति पाते हैं और हँस देते हैं उन गधों पर जो कहते हैं कि—यह क्षणिक उन्माद है। नष्ट हो जायगा। चेतो! जीवन में तुम्हारा भी यह कर्तव्य है। पथभ्रष्ट न होओ!

सुनकर ये लोग .खूब जी खोलकर हँसते हैं। ऐसी हँसी जिसका अर्थ केवल वे ही जानते है और ऐसी हँसी जो उस सन्देश-वाहक का मुँह फीका कर देती है और उसे लगता है कि वह जो उन्हें रोशनी देने आया था शायद .खुद भी ज़्यादा रोशनी में नहीं है।

२

सरूप के नाम के बारे में कोई ग़लती नहीं हो सकती, क्योंकि उसे हर कोई इसी नाम से जानता है। मुहल्ले की हर जवान औरत जानती है कि वह सरूप के साथ में निर्जन वीरान अकेले में भी सुरक्षित है—इसलिए नहीं कि सरूप अपनी लिप्साओं को जीत चुका है बल्कि इसलिए कि उसकी लिप्सा गन्दी नालियों में बहती है और कीचड़ पर ज़िन्दा रहती है। एक कुमारी की ओर ताकने के लिए जिस आत्मा की लाली की जरूरत होती है उसे सरूप कब का रूप की हाट में गँवा आया है—सोते में नहीं, जागते-जागते। इसलिए कि वेश्या के पास अपनी उच्छृङ्खलता को लेकर जाने में उसकी आत्मा को व्यथा नहीं होती, इसीलिए!

यों ही जब कभी सरूप अपने मुहल्ले से गुज़रता है, तो खेलते हुए बच्चों को देख कर उसकी इच्छा होती है कि उन्हें गोद में ले ले। पर उसे यह अधिकार नहीं है। वह समाज का एक कलुषित अङ्ग है। अक्सर तो उसे इस अलगाव-दुराव की परवाह नहीं रहती. पर कभी-कभी उसका व्यक्तित्व इस पथरीले भार के नीचे पिसता हुआ रो पड़ता है, और ऐसे मौक़ों पर उस पर कुछ कुहासा-सा छा जाता है और उसे कोई कमी किसी ओर दीख पड़ती है। लेकिन जल्दी ही कुहासा दूर हो जाता है। और वह एक मिनट में बारह क़दम उठाता हुआ,

बालाप्रसाद की शराब की दूकान, नन्हीं की गिलौरियों की दूकान, जेफ़रसन की कोकीन की पोशीदा दूकान को पार करके शम्मों के दरवाज़े पर पहुँच जाता है, अपने जूते पर पड़ी हुई गर्द पोंछ डालता है, तंजेब के कुर्ते में थोड़ी चूनट और डाल देता है, अपनी किश्तीनुमा बारीक टोपी ज़रा और एक ओर को झुका लेता है।

३

उसकी एक बुड्ढी माँ है। उनका रिश्ता भी अजब ऊटपटाँग है। सरूप को कभी अपनी माँ से कुछ नहीं कहना होता। रात भर कीचड़ में पड़े रहने के बाद जब वह घर लौटता है तो सिर्फ भठियारिन की सराय में आँख मूँदने के लिए। अपनी झोलदार चारपाई पर आकर कीड़े की तरह पड़ रहता है। उनके बीच कोई बात नहीं उठती। जो बात उठती भी है वह सिर्फ़ 'खाओगे ?' प्रश्न के घेरे में। उत्तर में या तो सरूप उठ बैठता है, या उसी बे-सिर पैर तरीके पर लेटा रहता है—नीरव और भीत।

जीवन में इतनी घोर विषमता, इतना उच्छृङ्खल यौवन, इतनी छिपी उदासी लेकर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, आश्चर्य है! सरूप अनेक बार सोचता है कि अपनी इस सारी बुराई को लेकर वह मां से क्या कहे ? उसके पास कहने को बचा ही क्या ? अपने पर उसे भरोसा नहीं फिर यों ही दुखा हुआ दिल और एक चोट से फटकर परे न जा पड़ेगा ?

वृत्तियों का सुधार होते कभी सुना है ? कैसे ? कोई पथ नहीं सूझ पड़ता। वह शराब भी पीता है पर क्यों ? अपने लिए नहीं। अपने अन्दर बैठे हुए उस भले-बुरे के आलोचक को धोखा देने के लिए।

जब वह अपने को सुधारने का प्रस्ताव करता है तो न मालूम कौन उसके अन्दर बैठा हुआ ठहाका मारकर हँसने लगता है :

ओ—हो—हो—हो !

उस कहकहे को सरूप आँख फाड़कर देखता और कान लगा कर सुनता है—

ओ—हो—हो—हो ! सुधार करोगे ? कितने भोले और नादान हो ? हा-हा-हा ! इस पथ पर आकर भला कोई लौटा है ? छोड़ो भी, अपनी मूर्खता छोड़ो और जितने नीचे गड्ढे में और जा सको जा गिरो । इसी में तुम्हारी सफलता है, समझे ?

फिर वह सुनता है कि उसी ने आज्ञा भी दी :

ले जाओ ! इसे छूटने मत दो । मौके पर पगली घंटी बजाना । चार बेड़ियाँ हाथों में और सोलह पैरों में डाल दो ।

४

जब सरूप की माँ इस सारी विषमता के नीचे पिसकर मर गयी तो उसे एकाएक यह न सूझ पड़ा कि वह करे क्या ? पर रास्ता तो बहुत सीधा है...तीन हाथ का सफेद कपड़ा, लड़की के दो गट्ठर जो ख़ूब सुलगें । और बस !

मां की अन्त्येष्टि करके सरूप घर लौट आया, और अपने बीच से चटखे हुए मटमैले आइने के सामने खड़े होकर उसने बालों में तेल डाला, बाल सँवारे, कुर्त्ता पहिना, टोपी को ठीक कोण पर झुकाया और उसने अपने को मंज़िल तै करने के लिए तैयार पाया । लेकिन दूसरे ही पल उसे भूल मालूम पड़ी । नोचकर टोपी चारपाई पर फेंक दी, कुर्त्ता सीने पर फाड़ दिया और उसका मुँह भी उदास हो पड़ा ।

उसी तरह बैठे-बैठे रात होने आई और घना अँधियारा छा गया।

बिना जाने कि वह कहाँ जा रहा है, उसके पैर उठने लगे।

तब वह श्मशान पहुँच गया। जहाँ उसने सबेरे माँ को फूँका था। सरूप झुका। उसके भाव दीन हो गये। वहाँ की उसने राख उठाई और उसे बड़े चिन्तन से माथे दिया। आँखों में आँसू छा गये।

जिन्दगी में जिस माँ से कभी नहीं बोला, उसकी तोला भर राख से मानो अपने अस्तित्व को झकझोर कर उसने कहा—तू देवी थी। तेरा नालायक़ बेटा तुझे कोई सुख कभी न दे सका। फिर भी वह तेरा बेटा है। माँ, उसके अवगुण तुम चित न धरो। भगवान् सब का है और वह मेरा भी है।

अन्तिम शब्दों को कहते हुए उसने अपनी छाती को पूरे बल से दबा लिया, मानों भीतर के अपने भगवान् को कभी भी वह कहीं न जाने देगा।

५

एक शाम को शम्मों ने बतलाया कि उसकी छाती में दर्द होता है। और डाक्टर का कहना है कि उसे तेज़ प्लूरिसी है।

सरूप ने सुन लिया, उसी तरह जैसे कोई गेहूँ या रूई का भाव या तीतर और बटेर के नाम सुनता है।

काफ़ी मशहूर वेश्या शम्मों और उसको प्लूरिसी हो जाय, यह बात किसी भी तरह मामूली नहीं पुकारी जा सकती।

हर जगह के डाक्टर ऊँची रक़मों पर आये।

६

फिर सरूप ने सुना कि शम्मों मर गई। पर उसके भावों में कोई

मोड़ न था—कोई घुमाव नहीं, कोई रंगों कीविभिन्नता नहीं। वह प्रकृतिस्थ बैठा रहा। वह अपने में पूरा तरह समाया हुआ था।

उसने शम्मों के मर जाने की खबर लगभग उसी तरह सुनी, जैसे कोई बिल्ली के बच्चे का टंकी में डूबना सुनता है।

... .

बेहद घनी अँधियारी रात थी। सरूप आज फिर चला आ रहा था। उसके बदन पर वही एक दो जगह से चिथा छीना कुरता था, सिर पर वही किश्तीनुमा बारीक टोपी थी और पैर में पेटेन्ट जूता था, बदन पर नाखूनी किनारे की धोती। उसकी भंगिमा में कोई अस्त-व्यस्तता लेश भी न थी।

वह कलवरिया से ठर्रा पिये मस्त झूमता चला आ रहा था, अपने को रूप की खान समझता हुआ।

धीरे-धीरे बालाप्रसाद की दूकान को पार कर, वह नन्हीं की गिलौरियों की दूकान पर आ खड़ा हुआ। और कितनी ही गिलौरियों को उठाकर मुँह में भर लिया। सरूप को शम्मों की मृत्यु का दुःख न मनाते हुए देखकर नन्हीं ने जैसे टोका—'बाबूजी, शम्मों जान नहीं हैं!'

सरूप ने बेफ़िक्री से जवाब दिया—'सो तो जानता हूँ।'

और अपने में मस्त झूमता हुआ आगे बढ़ गया!

स्वभाववश वह शम्मों के कोठे पर चढ़ गया। पर वहाँ पर ताला बन्द था।

अपनी अतृप्ति को लिये हुए वह नीचे उतरा मानों मरी शम्मों को कोस रहा था।

बग़ल की अजूरी ने उसको अपने कोठे पर चढ़ते देखकर अचंभा किया, क्योंकि उसका विचार था सरूप शम्मों को प्रेम करता है।

मतवाले सरूप ने अपनी धोती बारीकी से सँभाल ली, किश्तीनुमा टोपी को ठीक कोण पर झुका लिया और सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ अजूरी के कोठे पर बिछे हुए मिर्ज़ापुरी क़ालीन पर जा बैठ गया।

अजूरी ने भी खबर दी—'शम्मों जान अब नहीं हैं!'

सरूप ने हँसकर उत्तर दिया—'सो तो जानता हूँ।'

मानों पानी पीने का शीशे का गिलास टूट जाने पर वह बाज़ार से दूसरा ख़रीदने के लिए निकला हो!

———

शरीफ़े

चित्र में आप देख रहे हैं : एक ढहती हुई मेंड़ के किनारे एक ठूँठ, और ठूँठ से सटकर एक नयी कोंपलोंवाला नन्हा-सा पौधा—

कहानी में आप पढ़ रहे हैं : एक ऊबड़खाबड़ जीवन; बूढ़ा और उसका रज्जन।

बात एक ही है, केवल व्यक्त करने का ढङ्ग।

गाँव में यह छोटा-सा कुनबा मशहूर है और लोग इन्हें क्यों जानते हैं, इसकी भी वजह है।...

...आदमी से लेकर पेड़, पल्लव, लता, विटप, फूल, ईंट, गारा, गाय, बैल सब इस बात को जानते हैं कि बुड्ढे के रज्जन को शरीफ़े सब फलों से ज्यादा भाते हैं। ऐसा क्यों है, यह कोई न तो जानता है और न जानने की कोशिश करता है; लेकिन बुड्ढे ने रज्जन की इस नायाब पसंद का क़िस्सा दर्जनों बार लोगों को सुनाया है। कुछ को

ऊब मालूम देती है, कुछ उसके इस भोलेपन में रस लेते हैं, क़दर सब करते हैं। लेकिन बुड्ढे को इससे कोई सरोकार नहीं...उसे तो सबको बतला देना है कि उसके रज्जन को शरीफ़े बहुत अच्छे लगते हैं। और बस।

शरीफ़ों के दिन आये। बाग़ शरीफ़ों से लद गया, बाज़ार पट गया। फल बेचनेवाली गाँव में भी टोकरियाँ और झाँपियाँ भर-भरकर शरीफ़े लाई। अच्छे, बड़े, खूबसूरत और पके हुए शरीफ़े।

रज्जन ने शरीफ़े खाये, मन भर कर खाये। और जैसे-जैसे खाता गया, उनके बीज भी मकान के पिछवाड़े गड़ते रहे, छितराये जाते रहे और रज्जन की नन्हीं अँजुलियों में चढ़कर, पानी भी उन तक पहुँचा, पहुँचता रहा...

लेकिन बीज ठीक से रोपे भी न जा सके थे और अँजुलियों का पानी पूरी तरह सूखा भी न था कि रज्जन बीमार पड़ा और दो (या और सच कहें तो ढाई) दिन की बीमारी के बाद, जाता रहा। किसी ने कहा गर्दनतोड़ बुख़ार, किसी ने कहा जादू-टोना, किसी ने कहा कुछ। लेकिन गर्दनतोड़ हो या जादू-टोना या और कुछ, इन सबसे ज़्यादा स्पष्ट तो यह था कि उन शरीफ़ों के बीज अनरोपे ही छूट गये और अँजुलियों का पानी पूरी तरह सूख भी न पाया कि रज्जन चला गया : उस नई कोपलोंवाले पौधे को बर्फ़ानी हवाओं ने सुला दिया।

...हिना तो पत्थर पर पिस जाने पर ही रंग लाती है ; लेकिन उन शरीफ़ों के बीजों ने तो यूँ ही छितरा दिये जाने पर भी, कोई चार महीने बाद रंग दिखलाया और ज़रा-ज़रा-सा सर निकालकर, आँखें मलकर संसार को झाँका।

कोई चार-चार इंच के अँकुए दीख पड़े।

बूढ़े ने सूनेपन में साथी पाया और महसूस किया कि उन अँकुओं में रञ्जन ही फिर आ गया है—हँसता है, किलकारियाँ भरता है, आँखमुँदौवल खेलना चाहता है। अँकुओं में रञ्जन ? कैसी उल्टी बात है। लेकिन रञ्जन का बूढ़ा तार्किक नहीं है।

और इस तरह वे अँकुए बूढ़े की वत्सल गोद में बढ़ते रहे। एक दिन बूढ़े को यकायक सूझा कि घाम लगकर वे अबोध अँकुए कुम्हला, मुर्झा और झुलस भी जा सकते हैं। बस फिर क्या था ? बूढ़ी हड्डियाँ, सुबह से लेकर दोपहर तक जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ा ; लेकिन दोपहर होते-होते बचाव के लिए एक टट्टर भी बँध गया। वह अरहर के सूखे झाड़ लाया, केले के पत्ते लाया और जब दोपहर को उनका बचाव घाम से हो गया और उसने हर कोण से देखकर अपना समाधान कर लिया कि वे अँकुए अब संहार से परे हैं, तो कहीं जाकर उसे चैन मिला। बूढ़ा सोच रहा है : अब बेचारे घाम से सुरक्षित हैं और बड़े होंगे।

लेकिन बूढ़ा साथ ही और भी सोच रहा है : राह में रोड़ों की कमी नहीं है, ख़तरों पर ख़तरे। इनका बचाव अब बकरियों और दूसरे मवेशियों से करना होगा। चरवाहे तो बला के लापरवाह होते हैं, उन्हें क्या ग़म कि किसका क्या नुक़सान होता है !

और फिर तो, बुड्ढे का निगहबानी के लिए वहाँ बैठना लाज़िमी हो गया और जो कोई देखता, उसे पास ही बैठा हुआ देखता, कभी रस्सी बटते, कभी टोकरी बुनते : एक आदिम टीले की तरह एक जगह, एक मुद्रा में।

यों-यों करके वे अँकुए ताक़त पाने लगे।

जैसे कभी किसी अनहोनी बुलबुल ने सीना काँटों में चुभाये हुए,

हृदय के खून से एक सफेद गुलाब को सुर्ख कर दिया था, उसी तरह बुड्ढे ने भी उन अँकुओं को सींचा, पाला, पोसा...

और फिर क्या कहें। एक सुबह जब उसने देखा कि वे बदनसीब अँकुए बेदर्दी से रौंदे पड़े हैं, तब उसे क़रीब-क़रीब उतनी ही चोट पहुँची जितनी चार महीने पहले ऐसे ही एक दूसरे नन्हें पौधे को रौंदा जाते देखकर हुई थी। और उसने महसूस किया कि उसके अन्दर की एक बहुत बड़ी जीवनीशक्ति यकायक निकल गयी है।

प्रोफेसर साहब

गर्मी के मौसम हैं। दिन के बारह बजे हैं। धूप सख्त है, उमस है। जब पीपल के पत्ते जरा डोलते हैं, तब हवा बालू के गरम दानों की तरह बदन में लगती है। एक कालेज में जिसकी हवेली लाल रंग की है और जिस पर खपरैल छायी हुई है, लड़के बैठे हुए हैं। अन्दर घनी मूँछों और कामुकता के कारण स्याही-मायल-सुर्ख रंग वाले प्रोफेसर साहब, जिनका चेहरा बहुत चौड़ा है, गलमुच्छें रखता है और जिनकी फूली हुई नाक पर मोटी डण्डी का एक चश्मा है, लेक्चर दे रहे हैं। बाहर गरम लू के बीच पंखाकुली पंखा खींच रहा है जिसमें छुई-मुई सदृश लक्ष्मीपुत्रों को गर्मी डस न ले।

प्रोफेसर साहब—(पसीना पोंछते हुए) हमारा आज का विषय - शान्ति यानी 'पीस' है। हम आज उसके वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पहलुओं को देखेंगे और हम यह भी देखेंगे कि शान्ति के

मतलब अहिंसा के होते हैं, कि अहिंसा के मतलब नैतिक शुद्धि के होते हैं, कि नैतिक शुद्धि के मतलब, मन, वचन और कर्म से सारी हिंसा, पारस्परिक द्वेष, मोह, मत्सर, अहंकार के परित्याग के होते हैं। (प्रोफेसर साहब वक्ता बड़े सफल है।) यह एक आध्यात्मिक तथ्य है कि जब एक इनडिविजुअल यानी व्यक्ति में से हिंसा का सर्वथा निर्वासन हो जायगा, तो उस एक व्यक्ति के साथ जिनका पारस्परिक विनिमय, यातायात, एक्सचेञ्ज, इण्टरकोर्स होगा, कम से कम वे लोग उस एक व्यक्ति पर हिंसा का कोई अस्त्र नहीं चला पायेंगे। अस्त्र भौतिक रूप में कुण्ठित हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अस्त्र की प्रकृति संहार है, परन्तु स्वयं संहारकर्त्ता का मानवी पहलू उसके हाथों को बाँध लेगा।

पंखा चल रहा है लेकिन चूँकि एक आदमी अपने गर्म, महँगे खून को हवा की शकल दे रहा है, इसलिए हवा गर्म है। इस मारे प्रोफेसर साहब झुँझला पड़ते हैं।

—यदि एक बार कोई निरंकुश, नृशंस व्यक्ति अहिंसा के पुजारी पर हिंसात्मक अस्त्रों का प्रयोग कर भी ले, तो भी वही कमजोरी, जो हिंसा का कारण, कार्य, निदान सब कुछ है, ज़ंग बनकर उसकी तलवार में लग जायगी। यों देखने में तो तलवार में हर खून के संग तेजी ही आती मालूम देती है, लेकिन यह आज़माई हुई बात है कि धार कुन्द होती ही जाती है, ज़ङ्ग लगता ही जाता है (पंखा बिना ज़ङ्ग लगे चल रहा है!) और, और एक वक्त आता है जब हिंसक को अपनी ज़ंग-लगी तलवार में सान देने के लिए खुद अपनी गर्दन को छोड़कर और कुछ नहीं मिलता।

प्रोफेसर साहब मिनट भर के लिए रुके और 'हियर-हियर' के नाद

से कमरा दहल उठा। इस प्रचण्ड वक्तृता के कारण प्रोफेसर साहब में गर्मी आ गयी है और इस मौसम के इस पहर में ठण्डी हवा की जरूरत चौगुनी हो पड़ी है। पंखा चल ही रहा है लेकिन उससे कोई खास राहत नहीं नसीब होती।

प्रोफेसर साहब ने बाहर थूकने जाकर, पंखा-कुली को खूब खरी-खोटी सुनायी और उपसंहार के तौर पर, गले की पूरी ताकत से डाँटकर कहा—क्यों बे ! तुझे खाने को नहीं मिलता क्या ? मरियल टट्टू की तरह रिघुर-रिघुर कर काम कर रहा है ! एक रिपोर्ट में ही तुम्हारा मामला साफ़ हो जायगा। हाँ, नहीं तो ! पैसा मिलता है, तो जरा मन लगा कर पंखा नहीं खींचते बनता ?

बेचारा गरीब पंखा-कुली, भूख का मारा, किस्मत का सताया, अपने वास्तव में शक्तिहीन हाथों से पंखा जरा जोर से खींचता है और हाँफने लगता है। लेकिन वह खींचता है, अपनी रोजी के लिए उसे पंखा खींचना ही पड़ेगा। हाँ। और वह अपनी बची-खुची ताकत भी ईमानदारी के साथ लगा देता है।

प्रोफेसर साहब अन्दर जाकर फिर पढ़ाना शुरू करते हैं—हाँ तो मैं क्या कह रहा था ? हिंसा की बुनियाद ही खुद अपने ध्वंस पर कायम है। अहिंसा ही हमारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए...

पंखा किसी कारण से जरा रुक गया था। प्रोफेसर साहब को अपरिमित खीझ हो आयी—और क्यों न हो आये, नमकहराम पंखा कुली ! और उन्होंने बाहर जाकर उसे एक जबर्दस्त ठोकर मारी और उनके पंद्रह रुपये जोड़े वाले डासन के डर्बी जूते की पैनी नोक, गरीब की कमजोर पसलियों में चुभ गयी ! गरीब पंखा-कुली कटे पेड़ की तरह गिर पड़ा। वह ज़मीन और आसमान को हिला देने वाली आह

खींचता है और कराहता है। लेकिन प्रोफेसर साहब को किसी का कराहना सुनने से खास नफरत है—अपनी-अपनी तबियत होती है ! प्रोफेसर साहब अन्दर आ जाते हैं। उनका मन स्वस्थ होकर अपनी पूर्व स्थिति में आ चुका था पर वह आप ही आप आहिस्ता से बुद-बुदाये—अरे, मरने भी दो कामचोर को, जरा जोर लगा कर खाँसा और अपने पुराने लहजे में शुरू किया—

अहिंसा ही हमारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए। साथ ही यह भी बड़ी आसानी से समझ में आ जाने की बात है, दोस्तो, कि जब विश्व-समाज, वर्ल्ड-आर्डर, इसी अहिंसा की बुनियाद पर प्रतिष्ठित किया जायगा, तो कितनी शान्ति, कितना सन्तोष, कितना प्रेम जन्मेगा...

मैं असत्य और हिंसा के उस वातावरण से जरा हटा और घायल पंखा कुली के पास पहुँचा। थोड़ी देर बाद जब मैं चलने को हुआ, तब भी धीमी-धीमी आवाज कान में पड़ रही थी। प्रोफेसर साहब पूरी उमंग के साथ पढ़ा रहे थे......

......और संसार में इस समय जो अत्याचार निरंकुशता फैली हुई है और जिसका विरोध हम करेंगे और कर रहे हैं, उस सब का एक दम लोप हो जायगा और हमारी शान्ति की माँग पूरी हो सकेगी !

दूसरी बार 'हियर हियर' और 'वाह वाह' से कमरे की नींव हिल गयी। लड़कों की यह सभा अहिंसा परिषद् के तत्वाधान में हो रही थी।

× × ×

ऊपर देवलोक में, प्रोफेसर साहब का आखिरी शब्द खतम होने के साथ ही, सब देवताओं के होठों में विद्रूप की हँसी आ गयी थी और उनमें आपस में झगड़ा मचा हुआ था कि आया प्रोफेसर साहब को,

उनके मरने पर, उनकी वक्तृता-शैली के लिए ग्रीस के पेरिक्लीज़, डिमोस्थेनीज़, रोम के सिसेरो, इंगलिस्तान के बर्क, शेरिडन और पिट, भारत के शंकराचार्य और विश्वविजयी मण्डन के संग स्वर्गलोक में ला बिठाया जाय, या उनकी उस छोटी सी मासूम भूल के लिए जो उन्होंने कुली को पाँच नम्बर के जूते से ठोकर मारकर की थी, नरक में ढकेल दिया जाय। इस पर विभिन्न रायें थी, लेकिन जब पंखा कुली की आत्मा ने आकर तड़प कर गिला किया, शिकायत की, तो फिर मतभेद न रह गया।

मुंशीजी

लुटे हुए बाग़ीचे की तस्वीर यहाँ कमज़ोर और फीकी पड़ती है...

एक मुंशीजी मेरे पड़ोस में रहा करते थे। उन्हें पूरे आधा दर्जन लड़कियों के बाप होने का सवाब प्राप्त था। जैसा होता ही है, लड़कियाँ बालिग़ (यानी ब्याहने योग्य) और नाबालिग़ (यानी जिन्हें ब्याहने की ख़ास तंगी न हो) दोनों ही क़िस्म की थीं। लेकिन् बदक़िस्मती तो यह थी कि एक लड़की उम्र पाकर, वेद की ऋचाओं को सुन, न समझ, दोहरा और उन पर खीझ कर, बन्दरगाह से अपना लंगर छुड़ा भी न पाती थी कि क़तार की दूसरी लड़की कैशोर्य्य की पतली देहली लांघ कर, अपने अफ़सोस में ग़र्क़ बाप पर शादी की शकल में, सीसे का घना बोझ लाद लेती थी। यही इसका दर्द भी था मज़ाक़ भी, गोकि मैं इतना ज़रूर मानता हूँ कि मज़ाक़ ज़रा बेरहम था।

ईश्वर की कृपा से, हमारे मुंशीजी की लड़कियाँ कानी, कुबड़ी नहीं थीं लेकिन साथ ही वे अप्सराएँ न थीं, न हो पायी थीं, और न हो सकने की उम्मीद थी। यानी वे सांवली थीं, लेकिन कृष्णजी भी तो काले थे। यानी उनकी आँखें छोटी थीं (लोगों को कागज़ी बादाम पसन्द होते हैं) लेकिन चीन जैसे बड़े देश में वह तो एक सौन्दर्य था। यानी उन्होंने काया कुछ मोटी पायी थी, लेकिन यह तो बड़ी बात है क्योंकि इससे नस्ल सुधरती है। लेकिन कहना ही पड़ता है कि इस तर्क से लोग सहमत न थे और गोकि अपनी इस तंगखयाली का बोझ उन्हें ख़ुद को उठाना चाहिए था, लेकिन पिस बेचारे मुंशीजी ही रहे थे। निदान मुंशीजी को हर शादी के वक्त एक मोटी रक़म, बदसूरत औलाद पैदा करने के जुर्म में बतौर हरजाने के देनी पड़ती थी।

दो को तो मुंशीजी पटील चुके थे, लेकिन अगले जेठ तक अगली लड़की तैयार हो जायगी और यही बात मुंशीजी पर अपना मुर्दा वज़न डालकर उनका गला घोंट रही थी और अपने गोठिल दाँतों से, (ख़ून खारा होता है !) बेरहमी के साथ उनकी खाल नोच रही थी। इस सिलसिले में दो बातें समझ लेने की हैं। पहली बात तो यह कि मुंशीजी सिर्फ़ चालीस रुपया माहवार पाते हैं। घराना लम्बा चौड़ा है, जैसा विदित होगा, छः तो सिर्फ लड़कियाँ हैं। दूसरी बात यह कि इस लड़की में एक ख़ास ख़राबी है, उसकी बायीं आँख में एक फुल्ली है—और हर शख्स, अन्धा भी यह जानता है कि फुल्ली से ज़्यादा निकम्मी चीज़ लड़की में दूसरी हो नहीं सकती। और जानकार लोग तो यह भी जानते हैं कि उसके होनेवाले दूल्हे ने जो इधर-उधर सड़कों-बाज़ारों से जो थोड़ी बहुत बीमारियाँ समेटकर अपने में बसा ली

हैं, वे भी मुंशीजी की लड़की रेखा की आँख की इस फुल्ली से वज़न में कम ही हैं ! इसीलिए खास तौर पर कुछ ज़्यादा ख़र्चना होगा, क्योंकि इन्हीं रुपयों की मदद से लड़केवाले की आँखों में भी तो टकाहियल गुब्बारे के बराबर फुल्ली उगानी ही होगी न ? जहाँ तक इस बात का ताल्लुक़ है, मुंशीजी इन सारे हथकंडों से वाकिफ़ हैं, लेकिन इन हथकंडों की खाल पीटकर चमकते रुपये और दमकती गिन्नियाँ तो नहीं पैदा की जा सकतीं, यह तो सभी जानते हैं।

सभी अनुभवी लोग यह भी जानते हैं कि ऐसे मौक़ों पर जब रुपया उगाहना होता है, तो सहज बुद्धि को पहले दफ़न कर देना ज़रूरी होता है। मुमकिन है ऐसा कायदा हो। शायद है भी। मुंशीजी ने भी हर मुमकिन और नामुमकिन तरीके से रुपया उगाहा; क्योंकि रुपया उगाहना ही था। मकान, क़र्ज़ की पीली बाढ़ में डगमग करने लगा। लेकिन किसी को ग़म क्यों होने लगा, नशे का पहला खुमार जो ठहरा !

चारों तरफ़ इज्ज़त हुई। चारों तरफ़ शोर हुआ। चारों तरफ़ हो हल्ला हुआ, मुन्शीजी हाथों-हाथ रहे। चारों तरफ़ लोगों ने बातें की, हैरत की, हसद किया कि ईश्वर इंसान को दिल दे तो मुंशीजी सा।

मुन्शीजी ने बेदरेग़ रुपया खर्च किया; इतना कि एक सच्चे कलाकार की तरह, अपना-पराया, घर-बार, अमीरी-ग़रीबी, पास-पड़ोस, सब कुछ भूल गये।

और आज दो दिन से मुन्शीजी के यहाँ फ़ाक़े हो रहे हैं।

और तीसरी सुबह जब उनकी वफ़ादार पत्नी, उनकी ओर वफ़ा की निगाहों से देखकर टीस के साथ पूछती है कि वह पहाड़-सा दिन कैसे कटेगा भूखों-प्यासों; टसकाये टसक सकेगा भी या नहीं; और यह कि उनकी उस फ़ाकेमस्ती का मतलब बेचारी कमज़ोर, कम उम्र, नादान लड़कियों के लिए क्या है ?

तो.........

हमारे मुन्शीजी सिर्फ़ एक पल को आँख ऊपर उठाकर जवाब देते हैं : तुम भूल गयीं, अभी उसी दिन तो, याद है न ? मैंने अठ-पहल चवन्नियाँ लुटायी थीं। हमारी कितनी बड़ी जीत का नज़्ज़ारा था वह, आह ! मुफ़लिसों ने मुराद पायी, भुखमरों ने आँखें ठंडी कीं। और आज अभी तुम आयी हो यह असगुन सन्देश लेकर, क्यों ? अभी तो शायद हम कुछ दिन बिना कुछ खाये, उन ग़रीबों की बेशुमार असीस और अपने कमाये हुए बड़प्पन की लोथ चबाकर ही ज़िंदा रह सकते हैं ! अभी खाने की ज़रूरत ही क्या ? आखिर खाना मिलने पर भी तो आदमी रोता ही है, बच्चे बिलबिलाते ही हैं, अनुदार समाज आँखें तरेरता ही है......शिः !

और जब उनकी पत्नी चाह रही थी कि सवाल पर और पहलुओं से भी ग़ौर किया जाय, तब तक मुंशीजी, सब कुछ अपने पास से जैसे सरकाकर, हिन्दुस्तान का इंडस्ट्रियल नक़शा सामने छितराये उन व्यापारिक केन्द्रों पर आँख गड़ाने में संलग्न हो चुके थे जहाँ कि मालिक की एजेन्सियाँ खुल सकती हों। और वे कुछ बुदबुदा रहे थे, जो उनकी पीड़ित पत्नी समझ न सकी।

मज़हब का गेट-अप

मेरे चित्त में शंकाएँ उठा करती हैं और उनको दूर करना या एकदम से दबा देना जरूरी हो पड़ता है।...

आज सातवाँ दिन मैं भूखा गया। खाने-पीने को कहीं कुछ न था, इसलिए भूखा ही अपने जानलेवा काम पर जाना पड़ा। पर फिर भी मैं हिन्दू हूँ यानी मेरा भी एक मज़हब है...

किन्तु आज मैं भूखा हूँ, इसलिए मेरा मन डावाँडोल है। मुझे लगता है कि संसार में बनायी क़द्रें बूढ़ी-पुरानी हो गयी हैं और उनकी जड़ खोखली है, उनकी भीत कमज़ोर और एक धागे की है। अब उनकी जगह नयी क़द्रों को देनी होगी।

इस वक्त शाम के साढ़े सात बजे हैं। चार बजे शाम तक मुझे सपने में भी गुमान न था कि मैं, जो अपनी नंगी और डरावनी ग़रीबी में भी हिन्दू धर्म का इतना कट्टर उपासक हूँ, उसे छोड़कर और उसके

भाई-बन्द सारे धर्मों से नाता तोड़कर एक नास्तिक का जीवन बसर करने जा रहा हूँ।

गोकि यह बात भूलने की नहीं है कि मेरी भूख का आज सातवाँ दिन है।

मैं अनुभूतियाँ बयान करना नहीं चाहता, क्योंकि उसका बयान उसका एहसास करने से ही हो सकता है। इसलिए मैं सिर्फ कह दूँ और आप सुन लें कि मेरी भूख का आज सातवाँ दिन है।

मैंने अभी कहा था कि आज चार बजे तक मैं हिन्दू था, जिसके मानी हैं कि मैं किसी ईश्वर को अपना खून देकर पालता था, क्योंकि हर ईश्वर की ज़िन्दगी उसके अनुयायियों के ताजे खून से पलती है—हमारी दी हुई गिज़ा वह खाता है, हमारा दिया हुआ वह पहनता है और हमसे से हटकर उसके अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं होता, नहीं हो सकता। लेकिन इस वक्त चूँकि मेरे बदन का ख़ून रत्ती-रत्ती, माशा-माशा करके सूख चला है, सोचने की बात है, मैं एक बाहरी को ख़ून देने के लिए कहाँ से लाऊँ? बात साफ़ है। मेज़बान जब खुद ही दरिद्र हो गया, तो मेहमान की तीमारदारियों और लिहाज़ों का किस्सा कहाँ?

और इसलिए मैं नास्तिक हो गया। क्योंकि निस्बतन मुझे पहले मैं प्यारा हूँ, उसके बाद कुछ और। मुमकिन है मैं ग़लती पर हूँ।

लेकिन इस सब बीच यह बात हरगिज़ भूलने की नहीं है कि मेरी भूख का आज सातवाँ दिन है। और भूख को चाहे खुशहाल मोटे दिनों के दार्शनिक कितनी ही छोटी चीज़ क्यों न समझें, लेकिन वह इतनी छोटी चीज़ किसी तरह भी नहीं है कि सिर्फ मुँह बिचकाकर और कन्धे हिलाकर ही उसका सम्मान किया जा सके।

*　　*　　*

मज़हब का गेट-अप

सवेरे दस बजे का वक्त था। एक ब्राह्मण पुरोहित आया। उसके माथे पर तिलक त्रिपुण्ड था और हाथ में माला थी। वह गेरुआ वस्त्र पहने था और नंगे पैर था।

उसने अपना आसन जमाया और कहना शुरू किया—भगवान् ने कहा है कि वह युग-युग में पाप का नाश और सत्पुरुषों का उद्धार करने के लिए जन्म लेते हैं। भगवान् अवतार लेते हैं। विष्णु, राम, कृष्ण सब एक ही भगवान् के नाम हैं। आत्मा परमात्मा का खण्ड है, ज्योतिर्मय अंश है, उसी प्रकार जैसे सूर्य की असंख्य किरणों का उद्‌गम सूर्य में है। स्वभावतः परमात्मा से जीव या आत्मा एक हो जाना चाहता है, पर उसे ऐसा करने से रोकने वाली शक्ति का नाम माया है। माया मनुष्य को ग़लत रास्ते पर ले जाती है। वह महाठगिनी है। इसे दर्शन में शंकर का मायावाद कहते हैं। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा या परमात्मा एक है। इस अद्वैतवाद के भी कई विभाग हैं। क्या तुम सुनोगे ?

मैं चुप रहा।

'क्या तुमने वल्लभ, रामानुज, मध्व के नाम सुने हैं ? क्या तुम गौरांग महाप्रभु, कबीर, निम्बार्क से परिचित हो ?'

मैं अब तक तो कान में उँगली डाले बैठा था, क्योंकि मुझे बेहद भूख सता रही थी और मुझे इस सब थोथे उपदेश से लग रहा था कि झूठा मज़हब अपने जायज़ मकान को छोड़कर जीवन में नाहक़ एक बेहूदा दूरी तक घुस आया है और हमारी बनी कच्ची मेंड़ों को उखाड़ने की नीयत रखता है।

अब जब उस पुरोहित ने मुझसे यों सवाल पूछने शुरू कर दिये तो मुझे ग़ुस्सा आ गया। और मैंने उसे डाँट दिया।

वह तिलक और त्रिपुण्डधारी ब्राह्मण पुरोहित रोता-गाता बिगड़ता-कोसता चला गया। वह शायद सोच रहा था कि मेरा गन्दा दिमाग़ परमात्मा को समझे तो क्या समझे। और इधर मैं सोच रहा था :

'तुम धर्म-ध्वजियों ने भगवान् के हिम-सदृश शुभ्र नाम को कलंकित किया है। तुमने उसे भुलावा दिया है। भरमा दिया है। तुमने उसे मजबूर किया है कि वह अपने ग़रीब और बेचारे बच्चों को अपनी गोद से ठेल दे। तुमने उस पिता को संसार की समृद्धि का बिल्कुल ग़लत अन्दाज़ा दिया है। और जब तक तुम्हारे इस नक्कार-ख़ाने में हम ग़रीबों की पतली तूती की आवाज़ भगवान् के कानों तक न पहुँच जाय और वह फिर हमें अपना लेने को आतुर न हो पड़े, हम उसकी गोद में जाकर ढकेले जाना नहीं पसन्द करते। तुमने उसे अपने लिए सुरक्षित कर लिया है। तुमने उसे भरे पेट की चीज़ बना दिया है। जब तक वह एक बार फिर हमारी भूख और हमारे दुर्भिक्ष को समझने और दो आँसू गिराने में समर्थ न हो जाय, हमारा उसके पास जाना व्यर्थ है।'

इसके बाद एक बुद्ध भिक्खु आया और उसने

बुद्धं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि

कहा; पर मुझे लगा कि जब तक मेरा उचित इन्तज़ाम न हो जाय, मैं कहीं गच्छामि नहीं हो सकता।

उसने और भी कहा—सत्य बोलो। अहिंसा परमोधर्मः। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर षट्रिपु हैं। इनसे बचो। शरीर को यातना मत दो। वह भगवान् की काया है।...और निर्वाण को प्राप्त हो जाओ।

मैंने साँस खींचते हुए कहा—सुन्दर उपदेश हैं ! तुम जो भी कहते हो, सोना है, हीरा है, पन्ना है। इसमें मैं शक का थेगड़ा नहीं लगाता।...लेकिन जिसकी आत्मा नंगी, भूखी और बीमार है—हाँ, शरीर की कौन कहे, आत्मा भी नंगी भूखी और बीमार होती है और कलपती है—उसके पास अपना उपदेश लेकर मत जाओ। तुम्हारे उपदेशों का ठोसपन ही उस बेचारे के कान में सीसा पिलाने के बराबर होगा। इसलिए नहीं कि बुनियादी तौर पर उसमें कोई खामी है बल्कि इस लिए कि बात कुछ मुनासिब नहीं बैठती। इसलिए तुम भी अपने त्रिपिटक लेकर जा सकते हो।

वह बुद्ध भिक्खु भी चला गया।

इसके बाद मुसलमान मौलवी आया। उसने भी कहना शुरू किया—हमारे नबी मुहम्मद साहब ज़मीन पर तफ़रक़े को मिटाने और एक खुदा की तालीम देने आये थे। .खुदावन्ताला करीम से रूह कैसे एक हो सकती है, यह गुनहगार दुनिया पर ज़ाहिर करने वे आये थे। शैतान .खुदा से मिलने में रोड़ा अटकाता है, इसलिए उस पर फ़तह हासिल करना ज़रूरी है।

उस मुल्ला ने देखा कि मैं ऊबकर ऊँघ रहा हूँ। उसने पूछा—क्या तुम मुझे ग़ौर से नहीं सुन रहे हो ?

मैं चुप रहा।

'नबी के बाद हज़रत अली, हज़रत उमर, हज़र फ़ारूक़ वग़ैरह आये। और इसी वक्त इन लोगो मे निफ़ाक़ पैदा हुआ जो कि कर्बला के मैदान पर छाया हुआ और जिसने इसलाम के सैकड़ों जांबाज़ बेटे खा लिये......

'क्या तुम ऐसे इसलाम पर ईमान लाना नहीं चाहते जिसने हज़रत इमाम हुसैन जैसे बहादुर पैदा किये ?'

मैंने बड़े अदब से जवाब दिया—मैं दिल से हज़रत इमाम हुसैन—खुदा उनकी रूह को नजात दे—की पाकीज़गी, उनकी बेलौस बहादुरी, दरियादिली की तारीफ़ करता हूँ। .खुदा जानता है मैंने कितनी बार मीर अनीस के मरसिये अपने तईं दुहराये हैं और आँखों में आँसू भर भर लाया हूँ कि उनका-सा जवाहर दुनिया ने अपनी तंगदिली में खो दिया और जिसका खमियाज़ा न सिर्फ़ उस वक्त के मर्जाद और ज़ियाद को ही उठाना पड़ा, बल्कि आज भी जिसके शोले आये दिन भद्दे झगड़ों में भड़कते रहते हैं। मैं इस सब पर ज़ार-ज़ार रोता हूँ। लेकिन भाई माफ़ करना, तुम मेरे यहाँ से जा सकते हो क्योंकि तुम्हारे मज़हब की मौजूदा शकल भी उतनी ही भद्दी और नदामत से चूर कर देनेवाली है जितनी कि तुमसे पहले आये हुए, हिन्दू मज़हब के ठीकेदार के धर्म की थी...।

इसी तरह एक क्रिस्तान पादरी आया। उसके सर पर तिनकों का टोप था। और जिस्म पर खाकी पतलून।

उसने कहना शुरू किया—'खुदा के बेटे का नाम ईसूमसीह है। वह ग़रीबों का पालनेवाला और उनकी भलाई चाहनेवाला है। वह नाज़रथ में पैदा हुआ और मशरिक़ के सात संतों ने जाकर उसे दुआ दी। शुमाल से एक सितारा चला और एक नाँद पर जाकर रुक गया। मशरिक़ के उन सात अक्लमंदों ने देखा कि उस नाँद में खुदा का बेटा ईसूमसीह है। और उसे उन्होंने अपनी आँखों से देखा और .फौरन पहचान लिया।

'यहूदी आगे चलकर बिगड़ गये और उन्होंने नादानी में कहा

कि हम इसे सूली पर चढ़ायेंगे क्योंकि यह मागदलीन जैसी फ़ाहशा के यहाँ खाना खाता है और अंधे कोढ़ियों को खुदा की इजाज़त के खिलाफ़ अपने जादू-टोने से ठीक कर देता है।

'उनकी इस गलती पर रहम के समुन्दर ईसूमसीह को तरस आया और उसने खुदा से दुआ माँगी और कहा—ऐ खुदा, अगर तू सचमुच मेरे कारनामों और मेरे चाल-चलन से खुश है और मैं तेरे भेजे पैग़ाम को दुनिया में नक़्श-ब-नक़्श पहुँचा रहा हूँ, तो तू इन नादान बच्चों को, जो मुझे सूली पर चढ़ाना चाहते हैं, मुआफ़ी बख़्श, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।'

मैंने अपने ग़रीबपरवर भाई से कहा कि वह अपनी स्पीच थोड़े शब्दों में ख़त्म करके मुझे मशकूर करें तो उसने अपने सारे क़िस्से को निम्नलिखित शब्दों में ख़त्म किया—क्या तुम ऐसे ईसाई मज़हब के हामी हो सकते हो, जिसने ग़रीबों को तरजीह दी ? लेकिन मैंने महसूस किया कि उसे भी वही जवाब दिया जा सकता है जो उसके क़ब्ल आनेवाले तीन आदमियों को मिल चुका था।

क्रिस्तान पादरी भी चला गया।

× × ×

मेरे चित्त में शंकाएँ उठा करती हैं, और उनका समाधान आवश्यक हो जाता है। पर इन शंकाओं के बीच क्षोभ की एक रेख भी नहीं है क्योंकि मैं इस सत्य को भली तरह जानता हूँ कि यद्यपि वास्तविक सत्य-धर्म सनातन, चिरन्तन और दिग्दिगन्तव्यापी होता है, उसके ऊपरी रंग-रूप, सजधज, गेट-अप का अपना एक मकान होता है और उसे अपनी जायज़ जगह से आकर ज़िन्दगी को फ़िज़ूल ही ज्यादा घेर लेने देना ग़लती है। और इस बात को भी मैं ठीक तरह

से जानता हूँ कि इस गेट-अप और सजधज का इन्तज़ाम बगैर ज़रूरतों को पूरा किये नहीं हो सकता, क्योंकि आज मेरी भूख का सातवाँ दिन है।

कुछ दिन बाद जब नंगी भूख को कुछ पहनने के लिए हो गया, तो एक रात मैं अपने कमरे के रहस्यमय अन्धेरे में थोड़ा स्वाध्याय कर रहा था।

मैं कुछ अस्त-व्यस्त था और थाह लेना चाहता था कि रोटी यानी ज़रूरतों की सतह कहाँ पर है?

मुझे लगा कि मोमबत्ती एक बार कुछ धीमी पड़ी और फिर दूनी दमक के साथ बल उठी।

मोमबत्ती ने कहना शुरू किया—मुझे देखते हो?...मुझे देखते हो?...तुम जानते हो, मैं कौन हूँ? मेरा नाम मोमबत्ती है। ज्यों मैं तिल-तिलकर जलती हूँ तुम ज्योति पाते हो। है न? मैं न रहूँ तो जानते हो कैसा लगे? निपट अँधेरे में झाईं लगे, भूत लहरे। जो फटी पोथी तुम खोलकर बैठे हो, और जिस समुन्दर में पैठकर तुम मोतियों की राशि पा लेना चाहते हो, वह मेरी रोशनी के बिना काला अँधियारा हो जाय और मोतियों का पाना एक जड़ सपना। समझे? जो कुछ तुम आँख गड़ाकर देख रहे हो, वह हीरा है, मोती है, पन्ना है। लेकिन इन अमूल्य पत्थरों के भी पहले जिस चीज़ को पहले ला बिठालना पड़ता है, वह है ज्योति। उनका मूल्य आँकने के लिए भी तो पहले ज्योति की ज़रूरत पड़ती है? तुम देख रहे हो, कैसे मेरी एक बलती लौ, एक शिखा घूँघरवारी होकर निकलती है और फैल-फैल तुम्हें मदद पहुँचाती है कि तुम अपने मोती पा सको। एक बार इस ज्योति की शिखा को 'फू' करके बुझा दो और फिर, शर्त के साथ, सीप भी हाथ न आयें।

'जीवन में इसी एक ज्योति-शिखा की ज़रूरत होती है । हमको। तुमको। रास्ते के आदमी को। सब को। पहले यह ज्योति चाहिये, मोती तो बाद को भी ढूँढ़े जा सकते हैं। पर लोग भी कैसे मूर्ख हैं, पहले ज्योति की पिटारी लेकर चलते हैं, पर रोशनी का इंतजाम नहीं, ज्योति की यह पतली शिखा नहीं, अनाड़ी पारखी उन मोतियों को आँके, तो कैसे ? मैं कब कहती हूँ, मोतियों की पिटारी सच्ची नहीं, दग़ा और धोखा है ? पर उस सचाई को जानने के लिए भी तो प्रकाश चाहिये ? प्रखर प्रकाश न हो, तो झलमला ही सही, बुतता-जलता, कुछ-न-कुछ टूटे-फूटे खंडहर-जैसे कोनों में मुर्दा मुसकान तो ला देगा ?

'पर क्या तुम्हारे कण्ठ में इतनी ताक़त है कि तुम बतला सको कि कितने घरों में सदियों का अन्धेरा है, और कोई एक झलमला रखने भी न गया ? वह तुम्हारी मोतियों की पिटारी को घास-फूस मानकर ठुकरा देंगे क्योंकि यों भी उनके नेत्र की जोत धुंधली और अंशतः पथरा गई, उस पर से रहनुमाई के लिए एक दीया भी नहीं ?

'जब तक जीवन में वह प्रकाश न हो, कुछ नहीं हो सकता। सीधी बात है। मुझे एक बार बुताकर देखो, जवाब मिल जायगा।'

उसने एक बार धीमी पड़कर, फिर एकदम से उफनकर कहा— मैं न रहूँ, कैसा लगे, समझते हो ? निपट अँधेरे में झाईं लगे, भूत लहरे।

मुझे सारी बात याद आ गई : जब मेरी भूख का सातवाँ दिन था। अस्तित्व की नींव हिलती रहे, भूडोल लूट लेने को कहे, उस वक्त तुम अपनी मोतियों की पिटारी को खन्दक़ में फेंक दो, क्योंकि ज़रूरत का यही तक़ाज़ा है। तुम शर्म से अपना मुंह छुपा लो। एक नंगा वीभत्स हड़कम्प हँसकर टाल देने की चीज़ नहीं होता। हमारे

जीवन के पहलू

जीवन के अँधियारे से अँधियारे कोने के लिए यहाँ एक दुर्बल टिमटिम प्रकाश का दीया लेकर तो तुम आते नहीं, आते हो लेकर मोतियों का बकस—ज़बर्दस्त, रूप की खान, बेशक़ीमत, लेकिन बेकार और नामुनासिब। गुदड़ी के बिना जिसे सर्दी के हजार दाँतवाले आरे चीर-चीर रहे हों, जिसे ठिठुरन पलों में काठ बना देगी, वह तुम्हारा बेश-क़ीमत लाल लेकर क्या करे?...

चार बटन

नीलाभ को नींद नहीं आ पाई। बिस्तर पर पड़ा-पड़ा छत की कड़ियाँ गिनता रहा और रहा विचार करता अनेकों भाव-धाराओं पर, मानव में मानव के अविश्वास के औचित्य-अनौचित्य पर, इस पर, उस पर, सब पर! दर्शन-शास्त्र के सारे फैलाव को उसने बुहार डाला और अन्त में अंग्रेज़ी कविता, जिसका वह अध्यापक है, पर पहुँचते-पहुँचते--शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है—'ट्रैचरी, दाई नेम इज़ वूमन।' उसने आह की। सचमुच ही नीलाभ का व्यक्तित्व बेहद भोला है।

और आज ही शाम को उर्वशी ने उसे तलाक़ देकर अदालत में ज़लील किया है।

जब नींद नीलाभ की तनी हुई आँखों, झुर्रीदार माथे और थके मन को ज्यों का त्यों छोड़, पास नहीं फटकी तो वह आ खड़ा हुआ उस कमरे में, उस ड्रेसिंग टेबिल के सामने जो कल तक उर्वशी के जिस्म की अनोखी-अनोखी सुगन्धियों से लदे रहते थे।

उसने अपना बेहद उतरा और छः ही घण्टों में ढल गया हुआ उदास चेहरा उस बड़े आईने में देखा, जिसमें कल तक उर्वशी की नागिन-सी अलकें लहर खाती थीं, जिसमें उर्वशी की पतली कमर से लगे हुए उसके अच्छे गोल तराशे हुए नितम्ब लचक जाते थे, जिसमें उर्वशी की सँवारी हुई भौंहें बिछ जाती थीं, और जिसमें उर्वशी की नीली आँखें बाज़ की तेज़ी से साड़ी के इस पल्ले से ब्लाउज़ की उस नंगी, गोरी बाँह तक दौड़ जाती थीं।

नीलाभ नीली आँखों पर ठिठका, बुदबुदाया—लोग ठीक ही कहते हैं कि नीली आँखों का भरोसा कच्ची दीवार से भी कच्चा होता है। आह, यह आईना!

नीलाभ एक छोटे कॉलेज में अध्यापक है; लेकिन कमउम्र ही है और बहुत भोला है। वह समझता है कि आँखों का रंग सचमुच ही तलाक़ की दलील है।

इस वक़्त जब वह उस आईने के सामने खड़ा है, एकदम अकेला, घनी रात के दूसरे-तीसरे पहर में, उसे उस आईने में उर्वशी भी बहुत बार की तरह खड़ी हुई नज़र आती है। नीलाभ का दिमाग़ और मन असलियत में बहुत थका हुआ है। फिर भी वह वहाँ पर खड़ा होकर गोया आईने के पीछे से—अपने विवाह के सात महीने पीछे से आज शाम तलाक़ तक सफ़र कर आने को कह रहा है।

उर्वशी थी उससे कॉलेज में तीन साल जूनियर। उसे शौक़ीन लड़कियों से हमेशा हौलदिल पैदा होता रहा है; पर सिनेमा में उससे एक बार अचानक की मुलाक़ात हुई। फिर स्नेह-रंग में थोड़ी और गहराई हुई। कुछ महीने गुज़र जाते हैं और नीलाभ उर्वशी से पर्याप्त लुब्ध जान पड़ता है। फिर परीक्षा के दिन। उर्वशी उससे मदद लेने

उसके घर अक्सर आने लगी है। रात-बिरात का भी उसे ग़म नहीं है, फ़ारवर्ड लड़की, ऊपर से बी० ए० की विद्यार्थिनी ! फिर यों ही यों ही दोनों का पास आना और फिर एक दिन सात माह पहले उर्वशी और नीलाभ का रजिस्टरी से अदालत में विवाह !

उसके पिताजी इस नई पद्धति के ख़िलाफ़ हैं और नीलाभ अब घर से अलग हो गया है। नीलाभोर्वशी ने अपनी गृहस्थी बनाई। ज्यों-त्यों बनकर खड़ी हो गई; लेकिन चले कैसे। नीलाभ के पास पैसे नहीं हैं, कारण वह सिर्फ़ अस्सी रुपये का मुस्तहक़ है। और उर्वशी अपने वक्त में विश्वविद्यालय भर में सब से अधिक शौक़ीन और सुसज्जित लड़की रह चुकी है। यह कोई साधारण गौरव नहीं है।...और उर्वशी की तन्दुरुस्ती अलग आजकल एक दम टूटी हुई है, वरना वही नौकरी करती।

नीलाभ वहाँ उसी तरह खड़ा हुआ थके दिमाग़ से इन सब को सोच रहा है। उर्वशी और इस ड्रेसिङ्ग टेबल के बीच वह दो शक्लें और देख रहा है। एक तो बहिन लीलू की और एक अपने चार उभारदार चमकीले, नक्क़ाशीदार दबीज़ सोने के बटनों की। हाँ, इन बेचारे बटनों का भी अजीब हश्र हुआ कहलाया। नीलाभ और उर्वशी की गृहस्थी में अनेकों जञ्जाल की तारीखें आती हैं, लेकिन नवदम्पति इनको सेमर के फूल की तरह फूँककर उड़ा देते हैं। आख़िरकार, हाँ, कोई दो महीने पहले आई एक परेशानी, जो सीसे की तरह भारी और हिमालय पहाड़ की तरह लम्बी-चौड़ी थी। लगा, उसके वज़न के नीचे सब कुछ टूट ही जायगा। पर उर्वशी ने कहीं देख लिये थे नीलाभ के वे अनमोल बटन। हुई जिज्ञासा कि क्या उन बटनों की भस्म बनाओगे, काफ़ी दक़ियानूस हो ! नीलाभ क्या करे ? कमज़ोर आदमी, लीलू बहिन

की प्रतारणा—जिसकी उसने कल्पना की — के बावजूद उसने निकाला एक बटन और चला बाज़ार। गया और ले आया घण्टे भर में एक कीमती जार्जेट की साड़ी, ब्लाउज़, पैर के लिए बड़े कोमल, फूल की तरह तराशे हुए बन्ददार सफ़ेद सैण्डल और कान के लिए इमिटेशन बुन्दे ! कल उर्वशी कॉन्वोकेशन में डिग्री लेने जायगी न !

पर चोट लगी नीलाभ को बहुत। कितने प्यार से लीलू ने उसे वह उपहार दिया ! और लीलू को ही वह सब से ज्यादा चाहता है। उसने तय किया था कि किसी सूरत में उन्हें वह अलग न करेगा, छोटी-मोटी दिक़्क़तों के बीच भी वह इन छः बरसों में गुज़रा है, लेकिन उसने उन बटनों को अपने से लगाये रक्खा है। यों नीलाभ काफ़ी—ज़रूरत से काफ़ी—भावुक है, और यह नारी उसे बहा ले चली है, अपने ही उन्माद की भँवर में। उसे दर्द होता है कि वह निकम्मा है। एकदम निकम्मा ! एकदम !

बिल्ली ने देखे छीछड़े ! उर्वशी ने बटन !

बस क्या कहना, क़िसमत फूट गई। आये दिन इन दो महीनों में परेशानियाँ ज़्यादा ढहने लगीं। एक, दो, तीन, चार, गोलाबारी ही शुरू हो गई। 'अरे, परेशानी का ताल्लुक़ खाने से थोड़े ही है, जिसने मुँह दिया है, खाना देगा ही। परेशानियाँ तो दीगर चीज़ों की होती हैं।'—उर्वशी कहती है। उसकी प्रकृति ही ऐसी है।

गोया अब तक वह सपने के बीच से गुज़र रहा हो। एक दिन नीलाभ ने होश सँभाल कर देखा कि बाक़ी तीन बटन भी सिधार गये हैं और उनकी जगह ज़्यादा वर्गफ़ुट स्थान लेने वाली चीज़ों ने ले ली है। मसलन् वह ड्रेसिङ्ग टेबिल, जिसमें वह अपनी मौसम की मारखायी हुई शक्ल देख रहा है और जिसमें इस वक्त भी उर्वशी खड़ी, अपनी नीली

आँखें नचा रही है। मसलन्, सजावट की हजारों छोटी-बड़ी चीजें जिन्होंने ग़रीब नीलाभ को तबाह कर दिया। मसलन्, और भी बहुत-सी चीजें; सौन्दर्य के प्रसाधन, कोटी, डैगेट ऍंड रैम्ज़डेल, यार्डले, इरैसमिक की बनाई हवा से बुनी हुई चीजें, टैञ्जी ओंठ रगने के लिए. क्यूटेक्स और न्यूटेक्स (सौतेली बहिनें) नाखून लाल करने के लिए।

इन सब के अलावा आई, एक हल्के हरे नगीने की एक पतली, लेकिन बेहद लुभावनी और सुकुमार अँगूठी, जो नीलाभ ने उर्वशी को उसके जन्म-दिन पर दी। और फिर यह तलाक़! बेचारे नीलाभ को अपने निकम्मेपन पर रोना आ गया। ज्यों-त्यों सूजी आँख लिये हुए सुबह हुई, रोते-गाते। नीलाभ ने एक बड़ा-सा खत लीलू बहिन को लिखा, जिसमें तरह-तरह से, ऊँचे से नीचे से, आगेसे, पीछे से, दायें से बायें से, अन्दर से बाहर से, नई-नई साहित्यिक उपमा उत्प्रेक्षा से माफ़ी माँगी गई थी, और उसमें अपने निकम्मेपन पर ऐसा सिर धुना गया था कि क्या कहें, पढ़कर रोना आता था। बेचारा नीलाभ!

पर थी लीलू बहिन समझदार। उसने लिख दिया कि ऐसी ही ज़रूरतों के लिए ये चीजें हुआ करती हैं, इसमें घबराने की कौन-सी बात है। और भी इसी धुन की थोड़ी-सी बातें। लेकिन नीलाभ को यही हसरत रह गई कि उसने उनचीज़ों की फ़ेहरिस्त भी जिन पर वे बटन शहीद हुए, अपनें उस सविस्तर ख़त में क्यों न जोड़ दी। तब उनको—लीलू बहिन को पता लगता कि सोने के नक़्क़ाशीदार बटन, बन्ददार सैण्डल और रेशमी झकझक पर्दे ख़रीदने के लिए नहीं होते। हाँ, नहीं तो!

और नीलाभ हमेशा यह महसूस करता रहा कि बटन से ली गई उन चीज़ों ने लोहे के हीलदार जूते पहन लिये हैं और उसके सर की छत पर परेड कर रही हैं! बेरहम!

—–—

एक गिलहरी

"कुछ सुस्ती और कुछ अनमनापन, मैं बाहर घूमने के लिए निकल आया। बगीचे में आया, सोचा, जरा दिलबहलाव हो जायगा। और तो कुछ नहीं, सबो ने लम्बी-चौड़ी ज़मीन अलबत्ता घेर रखी थी। सब कुछ वीरान था, उजाड़, मानो अभी-अभी सब पर एक, जहर में तपी हुई, झुलसाने वाली हवा डोल गयी हो। बगीचे में उदासी-ही-उदासी दीख रही है। बागीचे—इसी नाम से उसे पुकारा जाता है—का रकबा बहुत था। इसीलिए जहाँ एक कोने में कुछ लड़के आँख-मिचौनी खेल रहे थे, वहाँ दूसरी तरफ गोलीका खेल जमा हुआ था। मुझे न मालूम क्यों महसूस हुआ कि ये खेल यहाँ पर न खेले जाने चाहिए थे—इनके लिए तो दूसरी ही हज़ार दिलकश, दिलफरेब जगहें निकल आ सकती हैं। इस बाग के लिए तो मुझ-जैसे बदनसीब, मायूस लोग ही ठीक हैं—जिन्हें न आज की जिन्दगी में कोई रस रह गया है और न आने-

वाली के लिए धीरज और इतमीनान। सब ओर से ठोकरें खाकर यहाँ आना चाहिए...इस उदासी के आलम में! चलो इस बियाबाँ में भी इतनी जगह तो है ही कि जरा घूम सकूँ। शायद तबीयत ताज़ा हो जाय।"

यह एक अधेड़ आदमी है—उम्र यही कोई चालीस साल। चेहरे पर निराशा के बादल उमड़-घुमड़कर छाये हैं। माथे पर बेशुमार शिकनें पड़ चुकी हैं, मानो वे उन सारी परीशानियों और तकलीफों की साखी देती हैं, जो उस बेचारे ने झेली हैं। चेहरे पर एक उदासी निरन्तर बनी रहती है। बाल उसके बड़े कहे जा सकते हैं और लापरवाही से मोड़ लिये जान पड़ते हैं। कपड़े उसके जिस्म पर चुस्त नहीं बैठते दीख पड़ते। मालूम नहीं, किस एक धक्के में वह और भी धँसता जा रहा है। उसका एक विलक्षण व्यक्तित्व है। जब वह हँसता है, उसके गाल में गड्ढे पड़ जाते हैं, जिनसे उसका आकर्षण तो बढ़ जाता है, पर साथ ही उसकी आँखें ऐसी कुछ स्थिर होकर रह जाती हैं कि देखनेवाले को लगता है, उन आँखों में बस अब आँसू आ जाने की कमी है। वह खुश रहने की कोशिश करता है, फिर भी उससे मिलकर वापस लौटनेवाले एक अफसोस लेकर लौटते हैं। उसका नाम जानने की कोई जरूरत नहीं।

लेकिन नहीं, आज जो उसकी शकल पर एक उलझन है, एक उजड़ापन है, उसके पीछे भी एक कहानी है....। लेकिन खैर, उस कहानी से हमको, आपको क्या? यहाँ पर तो कुछ दूसरी ही बात कहनी है। अस्तु, इस बात को यहीं छोड़कर हम देखें, वह अपना अपनापन लिये हुए लम्बे-धीमे डग रखता हुआ घूम रहा है। आखिरकार वह कुछ थककर पास की एक टूटी लोहे की बेंच पर बैठ गया।

बेञ्च एक बरगद के पेड़ के नीचे रखी हुई है। वह आदमी वहीं पर बैठा हुआ अपने विचारों में मग्न है। रह-रहकर आँखें सिकोड़ता है, बालों में हाथ फेरता है ; लेकिन जिस एक मुद्रा में वह आकर बैठा था, ठीक उसी मुद्रा में वह पन्द्रह मिनट बाद भी बैठा हुआ है।

उस बेञ्च से हटकर एक सोलह बरस का लावारिस-सा चंचल शोख लड़का नंगे पैर, फटे-से कपड़े पहने, एक हाथ में एक छोटी-सी गुलेल और दूसरे में कुछ गोल-गोल अँकड़ियाँ—जिन्हें गुलेल पर चढ़ाकर वह छोटे-छोटे जीवों पर निशाना साधता है—लिये टहल रहा है। यह आदमी अपने ध्यान में मग्न है और वह लड़का यह देख रहा है कि एक गिलहरी अभी दिखी थी और नीचे उतरने के लिए अभी बढ़ी थी, फिर कहाँ रास्ते में रह गयी! एकाएक एक नन्हीं-सी नादान गिलहरी किसी चीज की खोज में पेड़ के तने तक आकर रुक गई। उस आदमी की नजर भी न मालूम किस कारण से उस गिलहरी पर जम गई और वह आँखों-आँखों में ही उसका पीछा करने लगा। उसने देखा, वह गिलहरी तने से फुदकती हुई उतरी। उछलती हुई वह तीन हाथ आगे बढ़ी, फिर अपनी दुम पर खड़ी होकर उसने इधर-उधर चौकन्नी दृष्टियाँ फेंकी, फिर डरते-डरते पगों से और दुम लहराती हुई आगे बढ़ी। उसने पास ही पड़ा एक छोटा-सा तिनका मुँह में कुत् से दबाया और आँखों में कुछ शंका, भीति, और नादानी और पैरों में सफलता का भार लिये तने की ओर जल्दी, पर रुकते-रुकते बढ़ी। बेंच पर बैठा हुआ यह आदमी इस समय कुछ देर को अपने दुःख-सन्ताप भूलकर उस गिलहरी को बड़ी रुचि-पूर्वक देखता रहा था और सोचने लगा था—'कितनी नादान चीज़ है! छोटी-सी नाखूनी आँखों में कितनी चमक है!......मन्द भी, तेज भी, मानों

मौत भी हो, ज़िन्दगी भी। दुम ऐसे हिलाती है, मानों उसके छोटे-से जीवन में बाढ़ आ गयी हो।' और इस आदमी को ऐसा लगा कि वह गिलहरी अपनी अद्भुत चमक के साथ उसकी आँखों में देख रही हो और कुछ याचना कर रही हो, कुछ माँग पेश कर रही हो। और उसके नरम जिस्म की उन उभरी हुई काली-काली धारियों को देखकर उसे अनेक बातें याद हो आईं और उसने अपने चिन्तन को इन शब्दों में समाप्त किया—'ऐसी ही कोई भोली-सी नन्हीं गिलहरी त्रेता-युग में राम के सेतु में सहायता पहुँचाने के लिए, मुँह में एक छोटा-सा तिनका दबाकर राम के पास पहुँची होगी और राम ने मुग्ध होकर उसकी पीठ पर हाथ रख दिया होगा और तब से ये रेखाएँ गिलहरी पर राम की कृपा का प्रतीक बनकर चली आती हैं। राम ने गिलहरी को सबको दिखाकर कहा होगा—मेरी सच्ची भक्त यह है। इसमें सेवा करने की आकांक्षा प्रबल है; किन्तु शक्ति क्षीण है, फिर भी कार्य में कार्य करनेवाले की आत्मा देखनी चाहिए। इस गिलहरी का लाया हुआ यह तिनका मेरे सेतु को बाँधने में हनूमान और दूसरे योद्धाओं द्वारा उठा कर लाये हुए जंगल और पहाड़ से ज़्यादा सहायता करेगा।' और राम ने गिलहरी को चूम लिया होगा। सच है, यह गिलहरी है भी इसी योग्य।'

लेकिन उस गिलहरी को देखकर एक तरफ जहाँ उसने ये सब बातें सोचीं, दूसरी तरफ कुछ और भी सोचा, लेकिन...उसे वह दूसरी बात अस्पष्ट रूप में ही हृदय में कहीं करकती हुई मालूम पड़ी, जब तक कि......

एकाएक इस आदमी को, अपने चिन्तन के प्रदेश में जैसे धक्का लगा और वह घबड़ा कर खड़ा हो गया। उसने देखा, उस लड़के ने

गिलहरी पर गुलेल तानी—गिलहरी अभी तने तक न पहुँच पायी थी—और जब तक वह आदमी उसे चिल्लाकर रोके, उसने गुलेल छोड़ दी, और इस आदमी ने—आधी चीख बाहर और आधी चीख भीतर, आधी जान बाहर और आधी जान भीतर—देखा, गिलहरी जहाँ थी, वहीं ढेर हो गई। वह बेसुध होकर बेंच पर से गिलहरी के पास दौड़ा—यद्यपि जल्दी में उसका कपड़ा भी फँसकर फट गया—और दूसरे पल वह दम तोड़ती हुई गिलहरी के पास था। वह शिकारी लड़का लुटा-सा खड़ा था; लेकिन इस दर्द से बेबस आदमी के पास वक्त न था कि उसकी तरफ देखता या उससे कुछ कहता। उसने देखा, गिलहरी में अब भी कुछ जान बाक़ी थी और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद ज़रा-ज़रा सी साँस लेकर वह दम तोड़ रही थी। उसका पेट ऊपर नीचे आता जान पड़ता था। वह आदमी पास के नल के पास दौड़ा और अंजलि में थोड़ा-सा पानी लेकर दौड़ता हुआ आया। लेकिन उसने आकर देखा, पानी लाना बेकार हुआ..... उसने पानी उस पर छिड़का, लेकिन वह मिनकी तक नहीं। और नाकाम पानी उसकी काली धारियों और नरम गात से फिसल कर जमीन पर आ गिरा।

उस आदमी को जबर्दस्त ठेस लगी। और उसने सोचा, 'कैसा विषम अन्तर है—कहाँ वह चमकती हुई मोतीदाने-जैसी आँख और कहाँ यह पथरायी हुई बेजान मट्टी; कहाँ वह फुदकना और कहाँ यह जड़ होकर सो रहना; कहाँ वे चौकन्नी आँखें फेंकना और कहाँ अब विपत्तियों के हाथ समर्पण कर देना !...कैसा विषम अन्तर है भगवान् ...जीवन और मृत्यु में। अभी पल भर पहले इसने स्फूर्ति से बिदा ली होगी और अब...पत्थर की तरह निश्चल और अपने मुँह के कोने

से छूटकर गिरे हुए तिनके की तरह बेजान !' उस आदमी ने पानी लेकर उसकी आँखों को सहलाया, बदन पर हाथ फेरा, चूमा-चाटा, लेकिन वह गिलहरी न जागी। उसकी आँखें पथरा गयी थीं, और जिस्म बर्फ की तरह ठंढा हो गया था। और चालीस वर्ष का एक अधेड़ आदमी, जिसके बाल समय से पहले ही पक चले हों, जिसने तकलीफें कम न सही हों और झुर्रियाँ जिसके माथे पर समय से पहले ही आकर रम गयी हों, उसी के पास बैठा हुआ ज़ार-ज़ार रो रहा था; उसकी हिचकियाँ न बँधी थीं, लेकिन आँसू के क़तरे जारी थे।... उसका दिल चाक हो गया था। ऐसी पकी उमर वाले आदमी को इतनी छोटी-सी बात पर यों रोते देखकर लोगों को अचरज हुआ और एक छोटी-मोटी मजलिस जमा हो गयी यह देखने के लिए कि एक दुनिया की भट्ठी में पूरी तरह पकाया गया आदमी एक बिल्कुल मामूली-सी बात को लेकर यानी यही कि एक लड़के ने गुलेल तानी और गिलहरी मार दी, इतनी भावुकता यानी बेवक़ूफी का प्रदर्शन कर रहा है और यूँ उस मरी हुई चीज को अपने आँसुओं से धो रहा है, गोया गिलहरी न हुई, अपनी सगी प्या...। उनको अचम्भा तो इस बात का हुआ कि आया यह आदमी इस जमीन पर का है या फरिश्तों की दुनिया से आया है, जहाँ मुमकिन है ऐसे बेरहम दृश्य न देखने को मिलते हों। लेकिन इस जमीन पर तो गिलहरी की कौन कहे, लोग आदमियों को इसी तरह बेरहमी से मार देते हैं, और आदमी भी इसी गिलहरी की तरह बिना पानी के सिसक-सिसक कर दम तोड़ देता है और फिर उसकी मौत पर सिवाय उसके आसपास के दो-एक लोगों को छोड़ कर और किसी के एक क़तरा आँसू भी नहीं निकलता। और फिर...ऐसी दुनिया में गिलहरी की बिसात क्या कि उसे लेकर यूँ बेबस होकर आँसू गिराये जायँ !—

निकम्मी-सी बात ज्ञान पड़ती है। लोगों ने कहा भी : कैसा बुड्ढा बच्चा है। और वह आदमी भी कौन-सी बात लेकर यूँ विवश होकर रो रहा था, यह शायद वह जानता रहा हो—उसके आँसुओं से ढके मुँह की चिन्तित दीप्ति में यह बात लिखी हुई थी—लेकिन हमें नहीं मालूम...

लोगों का जमघट उसे अभी घेरे खड़ा ही था, जब वह एक विचित्र अस्त व्यस्त दशा में उठ खड़ा हुआ। हाथ में उसके तिनका था और लोगों के बीच से अपने को चीरता, अपना फटा कपड़ा झुलाता हुआ, वह बगीचे के किनारे अपने घर में घुस गया। अपने खास कमरे में जाकर उसने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिये और एक आराम कुर्सी पर धम से बैठ गया। फिर वह उठा और अपनी एक पुरानी मेज पर आकर—जिसकी लकड़ी सूख या निचुड़ चुकी थी और जिसमें अनेकों दरारें पड़ गयी थीं और उन दरारों में अजीब-अजीब किस्म के जानवर पलते थे—उसने बारी-बारी से सब खानों को जल्दी से खींचना, फिर आवाज के साथ अंदर ठेलना शुरू कर दिया। आखिरकार उसे वह खाना मिल गया जिसकी उसे तलाश थी। उसने उस ड्रॉअर में से एक पुराना, जर्जरित...लेकिन भली भाँति अपना परिचित नक्काशीदार बक्स निकाल लिया। उस बक्स को देखने से साफ जाहिर था कि उसकी लकड़ी खदर गयी है और उसके साथ ही उसके खोलने वाले का भाग्य किसी कारण से बहुत बार खोला-मूँदा गया है। नक्काशियों पर उँगलियाँ लगते-लगते वे भी घिस गयी थीं। और गोकि उस पर हर समय बहुत काफी गर्द पड़ी रहती थी, लेकिन वह धुला-पुँछा-सा दीख पड़ता था।

इस आदमी ने उस बक्स में पड़ी अनेकों चीजों में उँगलियाँ दौड़ायीं। उस बक्स में उसकी पुरानी मुहब्बत के अनेकों खत पड़े हुए थे, लेकिन इस वक्त उसे उनसे कोई काम न था। उसकी उँगलियाँ

दौड़ती रहीं, जब तक कि उसे एक छोटा-सा हलका-फुलका लकड़ी का डिब्बा न मिल गया। उसे अपनी याददाश्त से यह बात मालूम थी कि उस डिब्बे में वही चीज़ थी, जिसकी उसे तलाश थी...और मानसिक दुःख या क्षोभ में याददाश्त और भी अधिक पैनी हो जाती है।...

उसने उस डिब्बे को खोला और उसमें जो कुछ देखा, वह हम अपने पाठकों को भी दिखा दें—उसमें एक तह रुई ऊपर और एक तह रुई नीचे, दोनों को बीच में एक छोटा-सा, एक इञ्च का तिनका बड़े जतन से रखा हुआ था। और जतन से नहीं तो क्या ऐसे ही यह तिनका पचास साल पुराना होकर भी यों सुरक्षित रखा है। और खासकर जब इस तिनकेवाली घटना के ही समय और भी एक व्यापक घटना से सम्बन्ध रखनेवाली एक लड़की (जिसकी यादगार में ये चिट्ठियाँ थीं, जिनके बीच वह लकड़ी का डिब्बा प्रतिष्ठित था) इस बेचारे उदास आदमी को निरन्तर अपने नाम की माला जपते छोड़कर ही आखिर अपने पति के घर मर गयी...यह सब कोई मामूली बातें हैं—लेकिन हमें इससे क्या ? यह तो यों ही बता दिया...

वह आदमी खुला डिब्बा हाथ में लिये खड़ा था। रह-रहकर कभी-कभी उस तिनके को छू भी लेता था, और उसके चिन्तन की धारा जिस रूप में बह रही थी, वह इस प्रकार है —

'उस दिन भी तो यों ही कुछ धूप-छांह का-सा खेल मचा हुआ था—पल में सूरज निकल आता था और पल में ही बादलों की काली चादर में छिप जाता था। बरसात योंही नाममात्र को आ गयी थी, यद्यपि तब तक कोई गहरी वर्षा न हुई थी। यों ही फुहारें आती थीं और थोड़ी-सी नरमी और ठण्ढक देकर निकल जाती थीं। उस

दिन भी ऐसा ही हुआ था। दो बूँदें पानी गिरा था और साफ हो गया था। जमीन से सोंधी खुशबू निकलने लगी थी और चारों तरफ गहरी हरियाली नजर आती थी। मानो धरती हुलसकर आशीष दे रही हो।......

"बहुत बरस हो गये, इसलिए बहुत साफ तो बात याद नहीं है, लेकिन तब भी खास बातें, मोटी बातें...तब मैं सोलह बरस का था, और इसलिए एक तरफ जहाँ नादान शैशव मेरा पल्ला खींचता था, वहीं दूसरी तरफ पूरे आदमी होने की समझ और हविस जोर मार रही थी। लेकिन यौवन का पहला उभार सच पूछिये तो बचपन से भी नादान और बोदा होता है। मतलब यह है कि अनेकों बेवकूफियाँ, ऊटपटाँग ख्वाहिशें, अपने को 'कुछ' समझने की धुन मुझ पर अपना वजन डाले हुए थीं...और यही बुरा था !

"जिस दिन वह घटना हुई उसके एक दिन पहले मैंने गाँव में आनेवाले बिसाती से मामूली शीशम की एक छोटी सी गुलेल तीन पैसे देकर खरीदी थी। मैं यों भी आम वगैरह मार गिराने में अपने गाँव के छोटे-बड़े दोस्तों में उस्ताद समझा जाता था।...यह भी एक दुर्भाग्य ही था।"

और उसकी आँख में सूखे हुए आँसू एक बार फिर उतर आये—विषय की अँधेरी गहनता को सोचकर और यह याद कर कि उस कृत्य के हो जाने के बाद उसे मन के क्षोभ और ग्लानि और धिक्कार के रूप में कितनी गराँ कीमत देनी पड़ी थी......

"हाँ यह भी एक बदनसीबी ही थी कि मेरा निशाना अच्छा समझा जाता था। तो दूसरे दिन, जब कि समय सुहावना था और प्रकृति अपने हरे उल्लास में रँगी खड़ी थी, मैं सबेरे के वक्त अपनी

गुलेल लेकर निकल आया और चर्खी, मैना, पण्डुक वगैरह चिड़ियां की ताक में घूमने लगा। [और मन में कसद भी कर रहा था कि अगर इनमें से कोई चिड़िया न मिल सकी, तो किसी गिलहरी को तो जरूर ही निशाना बनाऊँगा।...

"...इस खोज में मैं तो घूम ही रहा था, मेरे साथ ही छोटे लड़कों का एक जमघट भी मुझे घेरे हुए घूमने लगा। कुछ का खयाल था कि मैं कुछ भी मार सकने में नाकामयाब रहूँगा और कुछ मेरे हिमायती थे, लेकिन मुझे तो सबको यह दिखा देना था कि मैं अचूक निशानेबाज हूँ और अगर बदनसीबी से और कुछ न मिल सके, तो गिलहरी तो कहीं गयी नहीं है।...पाप तो जैसे मुझे लगता ही न था, लेकिन लड़कों के उस हँसने और हिम्मत पस्त करनेवाले इशारों ने मुझे और भी जल्दी यह कह डालने के लिए मजबूर किया, जिसका सदमा जितना जबर्दस्त मुझे तब था, उतना आज भी है। चोट कुछ मामूली न थी। एक इतने अदना और नाचीज वाकये को लेकर मैंने तबसे अपने को कितना धिक्कारा है और कितने तड़पते आँसू गिराये हैं, यह न पूछिये। और तब से मैं कितने अफसोस और कितनी नदामत का शिकार रहा हूँ, इसे भी मुझी तक रहने दिया जाय।...

"गो मजाक की बात जरूर मालूम पड़ती है कि एक ऐसी दुनिया में, जहाँ सितम ही सितम हो, एक ऐसा आदमी, जिसे यह सब सितम और जेरबारी बख्शी गयी हो, इतनी छोटी-सी बात पर आँसू का एक कतरा भी बरबाद करे। फिर भी तबीयत पर काबू न हो तो...

वह दिन भी आजका-सा ही सुहावना था और प्रकृति नयी जीवनी शक्ति से छलकती हुई खड़ी थी, मानों कोई अमृत ढुलका गया हो, और अपनी इस हयात और खुशी का अपने लहलहाते

हुए हरे रङ्ग से दे रही थी। चारों तरफ जिन्दगी का पैगाम डोल रहा था। वहाँ खूँ-रेज़ी की गुञ्जाइश कहाँ थी। लेकिन मैं तो हाथ में घातक गुलेल और हृदय में यह घातक विचार अपने को सुनाता हुआ घूम रहा था : 'बन्दूक और तोप से तो सब मार सकते हैं। इसमें क्या रखा है ? तारीफ तो मेरी तब हो, जब मैं गुलेल से मारूँ और सो भी ज्यादा कंकड़ों की जरूरत न पड़े। सिर्फ एक निशाने में...बस वहीं पेट के पास में और काम तमाम। गोली के मानिन्द कंकड़ी बहुत तेजी से अन्दर घुस जायगी, वहीं निशान बन जाय और वह निशान भी किसी को न दिखेगा।...वहाँ से निकलती हुई खून की एक पतली रेखा तो बस होगी, जो किसी को दीख पड़ेगी। इससे ज्यादा क्या ? लड़कों का झुण्ड पीछे दौड़ पड़ेगा और उन सबके मुँह पर जो, मुझपर हँस रहे हैं, कालिख पुत जायगी। और...और मैं विजयी होऊँगा। सब मेरी तारीफ करेंगे, तो मैं भी कैसा फूला न समाऊँगा।

"और इस सबके बीच न तो मुझे यही सूझा कि यह बात भी सम्भव है कि मैं पुरानी कहानीवाली उस मेंढकी की तरह इतना फूल जाऊँ कि समा न सकूँ और फूट पड़ूँ। और न मुझे इन सारी हिंसक प्रवृत्तियों के बीच यह बात एक बार भी—धीमी आवाज में ही क्यों न हो—सुनाई दी कि कैसा हो अगर मैं एक मरती चिड़िया पर पानी छिड़क कर और एक मरती गिलहरी पर दो अंगुलियाँ फेरकर उन्हें जिला सकूँ। कैसा आह्लाद होगा, जब चिड़िया तन्दुरुस्त होकर फुर्र से उड़ जायगी और फिर परली तरफ से बाँस की लचीली डाल पर जब वह कोई नगमा अलापेगी, तो ऐसा लगेगा मानो वह मेरी बड़ाई और कृतज्ञता में कुछ कह रही है।"

वह आदमी उस डिब्बे पर सिर झुकाकर फफक-फफककर रोने

लगा.....जिसमें उसे चैन नसीब हो जाय। उसका चेहरा आँसुओं से भर गया और बूँदें कुछ-कुछ देर पर आँख के कोनों से टपककर रुई की उन दो तहों को भिगोने लगीं।...लेकिन उसके चेहरे पर सन्तोष लहरें मार रहा था।...

"और न मुझ अभागे ने यही सोचा कि जब वह मासूम नन्हीं-सी गिलहरी चङ्गी होकर हौले-हौले उछल-उछलकर अपने घोंसले में पहुँच जायगी, तो मैं क्या स्वयं अपनी कृतज्ञता के भार से न दब जाऊँगा?...लेकिन नहीं, मैं तो हिंसा पर आमादा था। और तभी न मुझे ऐसा निर्मम धक्का लगा, जिससे मैं अब तक न उबर सका और एक पुश्त गुजर जाने के बाद आज तक पुरानी हड्डी खोदकर (उस गिलहरी के नाम को तो कम और अपने नाम को ज्यादा) रो रहा हूँ!......ठीक है न?

"आज जब उस सारी घटना पर विशद रूप से विचार करना ही पड़ रहा है, तो मैं भी क्षोभ की इस बाढ़ में सन्तोष का एक तिनका यही पा लेता हूँ कि मैं भी किसी बड़ी ताकत की मातहत ही उस समय काम कर रहा था। कुछ ऐसा दुर्भाग्य कि कोई चिड़िया बैठे, मैं हाथ का हिलाना बन्द करके निशाना लूँ और इसी बीच वह उड़ भी जाय—मुझे खिसियाना-सा और प्रतिहिंसा की आग से फुँका हुआ छोड़कर। मेरे साथियों की जुमलेबाजियाँ और आवाजें तथा हँसी सब बढ़ती ही जायें। और इस तरह गोया मेरे सुलगने का रहा-सहा सामान भी इकट्ठा होने लगा।...

"आखिरकार बहुत ऊबकर, मुँह की कालिख छुड़ाने के लिए मैं गिलहरी पर उतर आया। और मुझे ऐसा लगा कि मेरे सिर पर नाचते हुए शैतान ने गिलहरी का इन्जाम भी पहले ही से कर रखा

था...क्योंकि मन में विचार आये दो पल भी न हुए थे कि मुझे एक गिलहरी पास के पेड़ से उतरती दीख पड़ी। बिलकुल ऐसी ही गिलहरी, जिस पर मैं अभी आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाकर, और इस प्रकार अपने उनींदे विषाद को फिर से जगाकर आया हूँ। ऐसी ही धारियाँ, ऐसी ही नादानी...दुनिया के मक्कार और दगाबाज आईन-कानून से, आँखों में वही पानी, वही चमक-दमक, इल्तमास, साथ ही वही गिला—सब कुछ वही...ओह, कितना दर्द !

"उसके दाँतों में भी ऐसा ही तिनका दबा हुआ था..."

उसने दोनों तिनकों को आमने-सामने रखकर मिलान किया; फिर बारी-बारी से दोनों को चूमा, आँख में लगाया और रख दिया—

"दोनों बिल्कुल एक-से हो हैं। वह भी ऐसे ही मुँह में दबाकर पेड़ के तने की ओर बढ़ी थी, लेकिन पहुँच न पायी थी। मैंने निशाना लिया और गुलेल छोड़ दी, और मानो मेरी पुरानी आकांक्षा का उपहास करते हुए ('बन्दूक से तो सब मार सकते हैं! उसमें रखा ही क्या है। तारीफ तो मेरी तब हो, जब मैं गुलेल से...और सो भी एक निशाने में...पेट के पास...रत्ती भर खून की पतली धार बह निकलेगी ... सबके मुँह पर मेरी तारीफ...बड़ा मजा आयेगा।...') मेरा निशाना ठीक जानवर के नीचे लगा..घाव बन गया..रत्तीभर खून की पतली धार बह निकली और जब तक मैं विजय और खुशी के आवेश में झूमता हुआ उस तक जाऊँ, वह मर चुकी थी—बिल्कुल वही मौत, जिसकी कि मैंने उसके लिए पापी दिल से आरजू की थी। हाय! भगवान् ने शायद तभी से मेरे लिए सजाओं का आयोजन कर दिया था!

"गया तो मैं दौड़ा हुआ उस तक अपनी फतह पर झूमने के लिए ही था, लेकिन हाय, जो तड़पता और कलेजे को बेदर्द नाखूनों से झंझोड़ता हुआ दृश्य देखा, उसने मुझे कहाँ से कहाँ ला पटका। आँखें पथरा गई थीं—उनकी वह चमक-दमक और वह आब तो मुझे सपने की याद दिलाने लगी। जो सच था, वह सिर्फ इतना कि वे आँखें पथरा गयी थीं...और उनके साथ मैं भी। उसका जिस्म बर्फ की तरह ठण्ढा था; कोई उस वक्त अगर मुझे छूता, तो मेरे बारे में भी शायद वह यही कहता। लेकिन ये तो बेबात की बातें हुईं।...उस दिन भी ऐसा ही पाक और सुहावना दिन था और मैंने खूँ-रेज़ी की।

"कौन जाने, इसका दण्ड मुझे कब मिलेगा। लेकिन मुझे याद है, मैंने गुलेल तोड़कर फेंक दी थी, अपने काँपते हाथों से गिलहरी को बड़े प्यार से उठाया था, और उन्हीं काँपते हाथों से तीन हाथ गहरा गड्ढा खोदा था और उसमें उस गिलहरी को सुलाकर ऊपर से मिट्टी फैला दी थी। और मुझे याद है, कुछ दिनो बाद उस पर हरियाली भी कसरत से उग आयी थी..लेकिन हाय, मेरे सीने की उस मज़ार पर तो हरियाली का एक रेशा भी आज तक पूरी तरह न उगा.."

उसके आँसू बहते-बहते कब सूख गये थे, उसे नहीं मालूम ; पर मालूम होता था कि उन्होंने भी भरसक कोई कसर न उठा रखी थी, क्योंकि उसके सामने पड़ी हुई रुई पानी से भारी हो गयी थी।

और मानो अपने को और सबको समझाते हुए उसने अपने चिन्तन को इस तरह समाप्त किया :

"और आज पच्चीस वर्षों के बाद भी मेरे अन्दर वह आवाज उसी तरह उठती है, जैसी कि पहली बार उठी थी...'क्या हुआ ! बस एक गिलहरी ही तो थी..' लेकिन उसका वैसा ही मुँहतोड़ जवाब आज

भी मौजूद है—'क्यों न आदमी के गले पर छुरी रेत दी जाय और इतनी ही मासूमियत और इतने ही भोले अन्दाज़ से कह दिया जाय... 'क्या हुआ ? बस एक आदमी ही तो था...।'

"मालूम नहीं, यह कब तक की तपिश है—बेरहम और बेनियाज़ !"

और उसने उस डिब्बे में एक तिनके के सङ्ग दूसरा भी रखते हुए दोनो को बहुत बेचैनी से लबों पर, फिर आँखों पर लगा लिया !

— -- —

तीन चित्र

१

इधर किसानों में नये सिरे से एक जागृति आ गयी है ; और अपने हकों के लिए सारी ताकत और जाँफ़िशानी से लड़ने और लड़-कर ले लेने का उन्हें भरोसा हो गया है। यह सच है कि उन्हें उल्टी पट्टी पढ़ाकर बहला सकना अब उतना आसान नहीं है जितना कि पहले था।

उन्होंने अपनी एक सभा की और तय किया कि सरकार को अब लगान न देंगे। ज़मींदार घबड़ा गया—और इसमें अचरज ही क्या क्योंकि उसकी रोज़ी पर बीतने जा रही थी। निदान, वह दिन-रात उदास रहने लगा और अब उसे यही चिन्ता थी कि किस तरह से किसानों को लगान देने के लिए मजबूर किया जाय। उसने भी अपने मातहतों यानी पटवारियों ,कानूनगोओं, कारिन्दों को बुलाया और रात

के अँधेरे में, धुँधली रोशनी में, अपने अन्तःपुर में एक सभा की। रात के एक बजकर पन्द्रह मिनट पर सभा विसर्जित हुई और ज़मींदार को छोड़कर बाकी लोग बाहर आये। ज़मींदार की आँखें नींद से बेक़रार बन्द हुई जा रही थीं, इसीलए वह इन्हें दरवाजे तक भी पहुँचाने न आ पाया और तुरत सो गया। कारिन्दे ने अपनी मोटी लाठी फटकारी, कानूनगो ने अपना बिसाती से ख़रीदा हुआ दो आने का चश्मा सँभाला, जिसका एक शीशा सुफेद धागे से बँधा हुआ था और पटवारी ने कान पर से कलम उतार कर उससे खेलना शुरू किया। ......और सबों ने बहुत-बहुत नरम और गरम बातें बकीं, जिनमें दम-खम तो बहुत था, लेकिन जिनका सिर था न पैर।

किसानों की जागृति में सबसे मज़बूत हाथ हरखू का था। वह किसी से दबना न जानता था, किसान उसका लोहा मानते थे और उसे मुखिया बनाकर ज़मींदार से बातें करने में उनका हक मारा न जा सकेगा, ऐसा उनको विश्वास था। इन्हीं सब बातों से कारिन्दा भी उससे 'तू' करके बात करने की हिम्मत न रखता था और ज़मींदार भी उसके आने पर चारपाई से उठ जाता था और उसको बैठने के लिए मचिया या मोढ़ा मँगा देने का कष्ट करता था और इतना ही क्या, कभी-कभी उसे अपने हुक्के में से ही दम भी लगा लेने देता था और ऐसी उसकी मेहरबानी हरखू छोड़ और किसी पर न थी। लेकिन हरखू साथ ही समझदार था और इन दिखावे की फ़रमाइशों में यह कभी न भूलता था कि वह किसानों का नुमाइन्दा है और उसे अपने हक़ इसी आदमी से लेने हैं जो उन्हें हड़प कर जाने पर अब उगलने से इनकार करता है।

इतना ही नहीं, हरखू की नेकचलनी की तारीफ़ ग्राम-ग्रामांतर में

थी। लोग कहते थे कि वह आँख नीची करके चलता है और किसी की बहू-बेटी पर पाप की नज़र डालना उसके लिए असम्भव है। और इस बात की तसदीक़ करने को सब तैयार पाये जायँगे कि गाँव की बहू-बेटियों को वह अपनी बहू-बेटियों की तरह मानता था।

× × ×

गाँव में रनियाँ बहुत खूबसूरत थी। उसका रंग चम्पई था, उसकी कमर लचीली और बल खाती थी; उसकी गोरी, मक्खन-सी कलाई पर काली चूड़ी बहुत फबती थी; उसकी उमर बीस साल की थी और उसकी आँख के कजरारे डोरे और साथ ही आम की फाँक जैसी उसकी वे आँखें तो इतनी खूबसूरत थीं कि मामूली आदमी की कौन कहे, ज़मींदार साहब के सबसे बड़े लड़के जो लखनऊ में पढ़ते थे और जिन्हें वहाँ की बहुत-सी परियों की सोहबत का नियाज़ हासिल था, वह तक उन आँखों और आँख के उन डोरों पर कुरबान थे।

हाँ, तो पिछली बात तो पूरी हुई ही नहीं; उस दिन शायद उन लोगों ने यही तय किया था कि अगर एक आदमी के भी गले में फन्दा डालकर, फन्दा कसकर गला घोट दिया जाय, तो बाक़ी लोगों के लिए एक सबक़ हो जायगा और मुमकिन है वह फिर हरामखोरी करने की हिम्मत न कर सकें। उस 'एक आदमी' के लिए हरखू का नाम बाज़ाब्ता पेश किया गया था और सर्व सम्मति से पास हुआ था।

गाँव का दारोग़ा ज़मींदार का दोस्त था और उनके संग उठता-बैठता था और अकसर ज़नानखाने में बैठकर ज़मीदार साहब के सग ताश और गंजीफ़ा खेलना उसे पसन्द था, जिस खेल में सिर्फ़ कुतूहल-वश ज़मींदार की बीबी भी शरीक हो जाती थी क्योंकि वह शहर की

लड़की थी और ये सब खेल उसे आते थे। इतना ही नहीं, चाहे बात कुछ भी रही हो लेकिन गाँव में तो यहाँ तक ख़बर थी कि ज़मींदार-पत्नी दारोग़ा साहब से प्रेम करती हैं। गोकि हमारा अपनी कोई ज़ाती राय रखना एक ग़लत बात होगी लेकिन महज़ असलियत इकट्ठी करने की ग़रज़ से इतना कहना ज़रूरी हो जाता है कि ज़मींदार साहब की अनुपस्थिति में भी दारोग़ा ज़मींदार-पत्नी से शायद राजनीति और अर्थशास्त्र के अहम मसलों पर सलाह-मशविरा करने जाया करता था! लेकिन हमें उससे क्या..

जमींदार का दारोग़ा से जब इतना घरोपा था तो यह कौन-सी मुश्किल बात थी कि एक गाँव में—जहाँ पर सल्तनत बरतानियाँ का सबसे उजला मुँह देखने को मिलता है गो कि वे ब्रिटिश सरकार के कभी न डूबने वाले सूरज की रोशनी से वंचित हैं!—हरखू को, बद-चलनी के जुर्म में पकड़ मँगाया जाय और हिरासत में बन्द कर दिया जाय? और मुकम्मिल यानी बेबुनियाद और पक्की यानी पहली ही ठोकर से भरभरा कर ढह पड़ने वाली शहादत की बिना पर यह भी साबित कर दिया गया कि रनियाँ के गर्भ है। लेकिन यह गर्भ किसकी देन है, इस विषय में शक किया जा सकता है क्योंकि चार महीने हुए जब जमींदार-कुल-शिरोमणि लखनऊ से तशरीफ़ लाये थे और उस वक्त इस बात की तसदीक जानकार हलकों में की गई थी कि सचमुच रनियाँ और ज़मींदार के बेटे नन्दनन्दन में बहुत पटती है..

खैर, बात कुछ भी रही हो, हरखू पर मुकदमा चला और उसे इंडियन पीनल कोड की ३७३वीं दफ़ा के अनुसार कुछ सालों की कैद हो गई। लेकिन एक सवाल उठता है कि आखिर रनियाँ ने जमींदार के मुआफ़िक़ और हरखू के ख़िलाफ़ शहादत दी ही क्यों? और जब

कि वह एक लफ्ज़ से ही तख्ता पलट सकती थी ? लेकिन इन सवालों का जवाब उतना मुश्किल नहीं है जितना कि मालूम होता है। चाहे सही, चाहे गलत रनियाँ को पहले से ही बड़ी बुरी तरह डरा और धमका दिया गया था और अगर सच पूछिये, तो ऐसा करना ज़रूरी भी था क्योंकि रनियाँ के एक अवांछित शब्द के कह देने भर से जमींदार—जो कि ईश्वर का प्रतिनिधि है—उसकी इज्ज़त पर धब्बा लग सकता था...

मतलब यह कि हरखू को कैद हो गई और जमींदार साहब ने जो सोचा था कि ऐसा करने से—यानी एक को मार देने से—बाकी लोगों को कुछ सबक़ मिल जायगा, यह योजना भी कुछ अंशों में सफल रही और इस तरह एक आदमी को जुल्म का शिकार बनाकर और उसके पुतले को गाँववालो की डरी आँखों के सामने टाँग कर उन्हें वसूली करने में कुछ सहूलियत ज़रूर हुई...लेकिन एक बेढङ्गा सवाल खटकता रह गया, 'कब तक ?'

× × ×

गाँव में मनहूस कौवों ने बड़ी आफ़त कर रखी थी। एक तो हरामज़ादे दिन-भर टाँव-टाँव करके कान खा जाते थे दूसरे सब इतने ढीठ थे कि थाली में से रोटियाँ उठाकर भाग जाते थे और किसी सूरत से मानते ही न थे। इसके अलावा, उन आफ़त के परकालों से बेचारे जानवरों को बड़ी तकलीफ थी क्योंकि वे पुराने घावों और बासी चोटों पर बैठकर नाहक उन्हें कुरेदते और दर्द पहुँचाते थे...

जब सबों ने नाक में इस बुरी तरह दम कर दिया तो एक दिन गाँव के पिताओं यानी 'सिटी फ़ादर्स' ने एक पंचायत बिठाली और तय किया कि एक बन्दूक मँगाई जाय। बन्दूक मँगाई

गई और जब कौवों का झुण्ड आकर बैठा, तो उसमें से एक कौवे को मार दिया गया। इसके बाद उसकी लाश को, एक मे अधिक मोटे-से डोरे में उलटा बाँधकर सरपंच की हवेली की कारनिस से टाँग दिया गया..

और यह योजना भी बहुत अंशों में सफल रही।

२

जब सुरेश अपनी बेहोशी से उठा, उसने अपने को एक बिल्कुल सूनी जगह में अकेला पड़ा पाया। उसने दिमाग़ पर जोर देकर याद किया तो उसे सारी बात साफ होती मालूम पड़ी :

वह रेखा को प्यार करता है। रेखा उसे प्यार करती है या नहीं यह जानने का उसे अवकाश नहीं है। रेखा को प्यार करनेवाला एक दूसरा भी आदमी है। इस तरह वह सुरेश का प्रतिद्वन्दी है। हो न हो, यह उसी की कारस्तानी है और उसी के लगाये हुए बदमाशों ने उसे मार पीटकर वहाँ उस सूनी जगह में डाल दिया है। उसके संग दो 'दोस्त' थे लेकिन यह कैसी बात कि उन्होंने भी ऐसी किसी दुर्घटना का कभी नाम न लिया? और यह क्या कि इतनी सादगी से, वे उसे उस निर्जन वीराने में मरता छोड़कर भाग गये? पहले की साजिश जरूरी है। वाह रे दोस्त!...'

बदमाशों ने बुरी तरह पीटा था—एकदम कचूमर निकाल दिया था। कहीं की हड्डी टूट गई थी, कहीं मोच आ गई थी, और छिला हुआ तो पचासों जगह था। बदन-भर में बला का दर्द हो रहा था। बेचारे का करवट लेना या उठना मुहाल था। एक तरफ जरा-सा जोर पड़ता तो नये घाव की पपड़ियाँ उखड़कर दर्द पैदा करतीं। वह चलने

फिरने में बिलकुल अशक्त हो रहा था। उसने एकाध बार उठने की कोशिश भी की, लेकिन दर्द से बेचैन होकर गिर पड़ा।

इस प्रकार सुरेश कुछ देर विस्मृति और बेहोशी की हालत में पड़ा रहा, और कुछ देर के आराम के बाद, उसने अपने में इतनी ताक़त महसूस की कि किसी तरह से जोर लगाकर, उठकर, लँगड़ाता-लँगड़ाता, ठोकर खाता, गिरता पड़ता हुआ घर की ओर बढ़ सके।

जब वह अपने मुहल्ले में पहुँचा और उसका घर केवल एक फ़र्लाङ्ग रह गया तो उसने पास ही अपने दोस्तों को सरगोशियाँ करते देखा, वे आपस में धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उन्होंने जब पास ही सुरेश को देखा तो झेंप उनके चेहरे पर लिखी हुई थी। लेकिन उनके चेहरे की सुरमई कालिख से सुरेश यह न कह सका कि आया अपनी हरकत पर वे सचमुच शर्मिन्दा हैं...

वे दोनों दोस्त सुरेश की तरफ़ बड़े इसरार और बड़ी मुहब्बत के साथ लपके और उन्होंने मानो सुरेश के मुँह में मुँह डालते हुए कहा—ओ हो, तुम आ गये? कैसे बदमाश लोग हैं दुनियाँ में! कैसे बेजा तरीक़ों से दिल का गुबार निकालते हैं, ईश्वर ईश्वर! तुमको वहाँ चोट लगी तो हम डॉक्टर बुलाने के लिये इधर बदहवास-से आये और तब से शहर का कोना-कोना छान डाला लेकिन कोई मरदूद डॉक्टर वहाँ जाने के लिए न मिल सका। अभी हम लोग आपस में यही बातें तो कर रहे थे कि आख़िर अब इस सूरत में किया क्या जाय! तुम्हें चोट लगी, तो ऐसा लगा कि कलेजा बरछियों से भिद गया हो, बिलकुल क़हर-सा गिर पड़ा! यानी मुझे तो ऐसा धक्का लगा कि मैं कुछ देर के लिये पागल हो गया! अपने दोस्त ऐसे ही तो होते हैं—एक जान दो शरीर; जिसे दोस्त के दर्द में दर्द न महसूस हो,

वह भी भला आदमी है ! क्यों, ज्यादा चोट तो नहीं आ गई है ! कहो तो हम दोनों तुम्हें अपने हाथों के स्ट्रेचर पर बिठाकर घर पहुँचा आयें—स्कूली दिनों में स्काउटिंग सीखी थी न ?

और उन्होंने झेंप मिटाने के लिए जरा हँसने की कोशिश की, लेकिन सुरेश के मुँह पर के अमित्रभाव को देखकर वे सहम गये और वह दग़ाबाज हँसी उल्टे पाव लौट गई।

उसके चेहरे पर एक तीखी, चुभती हुई, खिन्न मुसकान थी और उसने बड़े संक्षेप में लेकिन तने हुए शब्दों में कहा—हाँ चोट तो लगी ही है, उसमें कुछ कहने-सुनने को बाकी नहीं है और यह हमदर्द सवाल अगर वारदात के मौके पर पूछा गया होता, तो शायद ज्यादा मुनासिब होता, अब यह निकम्मी राल बिखेरना कोई मतलब नहीं रखता ! क्यों, ठीक कहता हूँ न ?

और सुरेश बिना उनके जवाब की प्रतीक्षा किये, उसी तरह लँगड़ाता हुआ आगे बढ़ गया। दोनों दोस्त पिटे हुए-से खड़े थे।

× × ×

मैंने अपनी आँखों से देखा, एक जगह चींटों का एक जमघट था। शायद वे खुशियाँ मना रहे थे।

दुर्भाग्य की बात, एक चींटा मेरे पैर से दब गया। वह एकदम कुचल न गया था और अभी जिन्दा था यद्यपि चोट उसे सख्त आई थी।

... मैं सच कहता हूँ, सारे चींटों ने अपनी खुशियाँ उसी दम बन्द कर दीं; कुछ चींटे आये और अपने उस घायल दोस्त को लेकर, अपने ऊपर लादकर ले चले। बाकी चींटे पीछे-पीछे ग़मगीन चल रहे थे।

वे उस घायल चींटे को मरता छोड़कर आगे न जा सके...शायद इसीलिए कि वे आदमी न थे।

३

तुम क्या जानो, मैंने एक तितली पकड़ी। इतनी खूबसूरत और रंग-बिरंगी जितनी कि पहले कभी देखी न थी। उसकी पूरी ज़मीन दो रंगों की थी। एक सरसों के रंग की पीली और दूसरी काली। पीली ज़मीन पर नीली और एक-दो कत्थई छींटें थीं और काली ज़मीन पर सुफेद। और इन सबके बीच एक लाल रंग की पतली रेखा बही हुई थी। वह बहुत ही खूबसूरत थी। मैंने उसे बेले के फूल पर बैठे देखा और कोशिश करके पकड़ लिया।

थोड़ी देर हाथ में लिये हुए उसका मुँह कभी इधर को और कभी उधर को करता देखता रहा! लेकिन इसी बीच कोई ग़फ़लत हो गई और तितली जो कि लगातार भागने के लिए पंखों से ज़ोर लगा रही थी, हाथ से फिसलकर उड़ गई। लेकिन ऐसा करने में उसका बहुत-सा रंग मेरे हाथ में छूटकर आ गया और उसके पंखों का भी थोड़ा हिस्सा...और इस तरह रंगों से ख़ारिज और पंख कटे हुए वह तितली अपना सारा लावण्य खो बैठी और बेहद कुरूप और भद्दी दीख पड़ने लगी...अब वह बुड्ढी हो गई थी और उसे पकड़ने के लिए मन न ललचता था। इसलिए जब वह फिर जाकर दूसरे फूल पर बैठी, मैंने उसकी ओर ताका तक नहीं और दूसरी किसी खूबसूरत तितली की तलाश में आँखें दौड़ाता रहा...और विकट सत्य तो यह है कि मुझे इस बात का तनिक भी ध्यान न रहा कि इसे कुरूप और भद्दा बनाने

का सारा उत्तरदायित्व मेरा है...मैं, मैं जो उससे घृणा करते हुए भी अपने को इंसाफ़ पसन्द समझता हूँ... तुम क्या जानो।

× × ×

लखनऊ में चमेलीजान का नाम आप बच्चे-बच्चे से पूछ लीजिये। कोई ऐसा न होगा जो चमेलीजान को न जानता हो। कमसिन, उभार पर की उमर, ऊपर से सुडौल जिस्म—पतली कमर, गोल कलाइयाँ, चाँद-सा मुखड़ा, चंपई रंग, जिसमें एक खास पीलापन था जो खरीदारों को ख़ास स्वादिष्ट मालूम पड़ता था, मछली-सी आँखें और कान में वे मकड़ी के जालेनुमा बुन्दे सब कुछ ऐसा था (संग में वह मुस्कराहट) कि जिसका एक बार उससे परिचय हुआ, बस चमेलीजान का मुरीद बन बैठा।

लखनऊ में बहुत दिनों से उनका बोलबाला था। उनके मकान में घी के चिराग़ जलते। सब से ज्यादा हरी-नीली रोशनियाँ उन्हीं के यहाँ दीख पड़तीं और उनका कमरा बासी और ताज़े फूलों, नर और मादा फूलों, अल्हड़ और सधे हुए फूलों के वज़न से कराहता रहता...

कुछ बरस बीत गये।

चमेलीजान का मकान अब भी वहीं है जहाँ पहले था। लेकिन अब, न वहाँ फूलों की वह भरमार है और न वे रोशनियाँ। सब कुछ उजड़ गया...गोया चमन से बुलबुल बोलकर उड़ गई।

...ज़वाल आया, उमर ढल गई, अन्दाज़ बासी हो गये, जिस्म से जवानी ने रुख़सत ली...और दोस्त खिंच गये, अपने बेगाने हो गये...

और एक दिन तो मुझे सचमुच अचरज हुआ जब मैंने देखा

कि उसके चिराग़ गुल हैं, मकान में ताला पड़ा है और दरवाजे पर एक अजीब-सी बेमानी तख्ती लटक रही है—

'यहाँ अन्दाज़ बिकते हैं, और इन्हें खरीदनेवाले धनकुबेर असल में दीवालिये होते हैं। यहाँ इन्सान की हैवानियत नाचती-गाती है, सर धुनती है।'

..अपनी खुशी में खोया हुआ आदमी एक चीज़ को खुद ही मुर्दा और बासी बना चुकने के बाद, उसी से नफ़रत करने लगता है, करने की जुरअत रखता है!

...अजीब कायदा है।

प्रेम = अँगूठी+इयररिङ्ग

उपेन जो कि मृणाल को भूल चुका है, और मृणाल जो कि उपेन को भूल चुकी है।

एक फीकी-सी याद के बल पर, उपेन ने प्रेम उँड़ेलते हुए मृणाल से कहा—कहाँ जा रही हो, मृणाल? घर न? ठीक है ठीक है, सो तो मैं जानता था। मैं भी तो उधर ही जा रहा था।

मृणाल ने स्वाभाविक आपत्ति की—कैसे? आप तो कहीं और को जा रहे थे? उलटी तरफ?

उपेन ने जैसे मुँह पर चढ़ती हुई लाली को पोंछते हुए कहा—हुँः हुँ! नहीं तो। जा तो वहीं रहा था। पर समझो दूसरे रास्ते से। मैं और कहाँ जा सकता था!

इस बात के कहते ही उपेन को ऐसा लगा कि वह झूठ बोला है, कि उसने अपने को धोखा दिया है, कि उसके मुँह पर लाली बरबस ही चढ़ रही है।

इस लाली को जब उपेन वास्तविक-सी बना चुका, तो उसने फिर बात छेड़ी—चलो तुम्हें कुछ दूर पहुँचा दूँ—(उसने आगे की ओर उँगली से इशारा किया)—आखिर कुछ हमारी पुरानी दोस्ती का भी तो तकाजा है।...नहीं, नहीं, तुम यह न कह सकोगी कि आप तकलीफ न करें। नहीं, मुझे कोई तकलीफ न होगी। तुम्हारे ऐसा कहने से ही मुझे सबसे ज़्यादा दुःख होता है। बोलो, तुम मुझे ग़ैर समझती हो? कोई फॉरमैलिटी की बात नहीं, मृणाल! तुम तो फिर जानती ही हो कि मैं अपना आदमी हूँ।

उपेन और मृणाल साथ-साथ सुनसान वीराने में पैर बढ़ाने लगे। रास्ते में दायीं-बायीं तरफ दूर तक फैले हुए चीड़ के जङ्गल हैं, जो उस वीराने में अजब लगते हैं। ऊँचे-ऊँचे देवों से! उनकी मूक महत्ता अवश्य ही मन पर छाप मार देती है। समस्त विश्व नीरव है। सिर्फ किसी महीन जानवाले जीव की महीन आवाज ही रह रहकर उस नीरवता को भंग करती है। इसे छोड़ सब-कुछ नीरव है, स्तब्ध है—साँय-साँय!

उपेन के वाक्य के पिछले हिस्से पर, जो सबसे अधिक प्रेमानुसिक्त था, मृणाल एक ठहाका मारकर हँसी; और वह हँसी उस वीराने को चीरकर गूँज उठी। फिर उसने कहा—अरे, तुम क्या मुझे सचमुच उतना ही प्यार करते हो, जितना मैं तुम्हें करती हूँ! मेरे उपेन, तुम नहीं जानते, तुम्हारे प्रेम-रूपी पौदे को मैं कितना अपने हृदय का रक्त सींचकर पाल रही हूँ।

उपेन ने एक चीड़ के झुण्ड को दिखलाते हुए और अनुराग ढलकाते हुए कहा—मृणाल, तुम्हें याद है न? जब हम उसके नीचे आकर बैठा करते थे; दुनिया के सारे पाप और बुराइयों से दूर, बहुत

दूर ! प्रकृति की इस, अहा, सुनहरी-सुहावनी गोद में । जब हम यहाँ बैठकर अपना नूतन संसार बसाया करते थे, जिसमें सदा बसन्त ही खेलता रहता था, सदा भौंरे ही गुञ्जन किया करते थे, सदा मत्त पराग का ही वितरण होता था, सघन अमराइयाँ होती थीं, पास एक सुहाना झरना बहता था, विश्व निस्तब्ध होता था । तब कोई भी आवाज न आती था, मृणाल । सिर्फ दो भोले, शिशु-सदृश, अनजान हृदयों का स्पन्दन वायु को चीर कर मुखरित हो पड़ता था !

यह सुनकर मृणाल को लगा कि यह आदमी जो इस समय कवि बन रहा है, प्रेमी बन रहा है, अपने भूखे शब्दों के अक्षय भण्डार को खर्च कर रहा है, आवारा है, बदमाश है, ढोंगी है ! पर मृणाल चुप किये बैठी रही, क्योंकि प्रेम का पहला तकाजा तो यह है न, कि मन की बात गुप्त रहनी चाहिए । जबान मीठी, दिल कड़वा; जबान मोहनभोग, दिल सबसे कड़वे नीम की सबसे कड़वी निमकौड़ी ! तभी तो दोस्ती निभ सकती है । वह रह रहकर प्रेम-मदिर आँखों से उपेन की ओर ताककर उसे मतवाला और निहाल करने की भी चेष्टा कर रही थी; क्योंकि उपेन भी दोस्ती का मतलब समझता है ।

उपेन ने एक-सौ-एकवीं बार जबान हिलाकर यह बात कही—मेरी मृणाल ! तुमको तो मैं हमेशा से इसी तरह प्यार करता रहा हूँ। तुम तो मेरी हो प्रिये !

मृणाल ने सौवीं बार कहा—मेरे उपेन, भला तुमको भी इसमें शक है ! गो कि तुमने कोई 'डीसेन्ट प्रेज़ेन्ट' लाकर नहीं दिया, फिर भी (रुककर)—तुम्हें यह तो शक न होना चाहिए कि मैं तुम्हें अपनी जान से भी ज्यादा प्यार करती हूँ !

इन्हीं शब्दों को वह निन्नानबे बार, उपेन छोड़, दूसरों से कह

चुकी थी। इसलिए इन्हें फिर कहने में उसे खास तकलीफ न हुई। ये रटे हुए शब्द थे।

उपेन को उत्तर अच्छा मिला था। उसने 'प्रेज़ेन्ट' वाली बात को पीछे डालकर, एक चुम्बन चुराने की कोशिश की, और मृणाल को अपनी बाँहों में खींचना चाहा।

मृणाल ने छिटककर कहा—पागल न बनो, उपेन ! कैसे जान-वर हो !

फिर दूसरे ही क्षण इस क्रोध को परे फेंक, वह उपेन की ओर अनोखे ढंग से ताककर मुसकरा दी।

मृणाल घर जाने को मुड़ी ; और उसने नमस्ते कर ली। जब वे एक दूसरे से इतने गज दूर हो गये कि कान को कान न सुने...तो उपेन ने कहा—अच्छी चिड़िया है। धीरे-धीरे आ रही है। दाना बिखेर तो दिया है। आयेगी ही। ढंग तो अच्छा खेला।

तो मृणाल ने कहा—पहले पाँच। यह छठा उपेन। जाल तो अच्छा फेंका है। मृणाल, तारीफ है री, तेरी कनखियों की। एक न एक अँगूठी और इयररिंग दे ही मरेगा !

———

ताक़त और खुदा

दृश्य १

[समय—काले पाख की अँधियारी। रात के बारह बजे। सुनसान, वीरान जंगल जो रात के अँधियारे में आदमी को खा डालेगा। सारा संसार निस्तब्ध है, डरा हुआ। बीच-बीच में शेर की दहाड़ या भूखे भेड़िये के फटे गले के खुर्र-खुर्र, खौं-खौं, गों-गों से निस्तब्धता भंग हो रही है। मचान पर बैठे हुए दो आदमियों में फुसफुसाहट होती है।

अपनी इच्छा के विरुद्ध साँकल के ज़ोर पर एक अभागा बकरा पेड़ के निर्मम तने से बाँधा जा रहा है।]

बकरा (रोकर)—देखो, मुझे मत बाँधो। मेरी जान न लो। मेरी स्त्री है। मेरे बच्चे हैं। उनके खाने का कुछ ठिकाना नहीं। वे भूखों मर जायेंगे, उन अपदार्थ कीड़ों की तरह जिनके जीवन के तागे में ही घुन लगा होता है और जो मौत को एक मामूली-सी दुर्घटना से

अधिक कुछ मानने की मूर्खता नहीं करते। (उसके आँसू सूख चले) ऐसी हृदयहीन निर्दयता से मुझे मत मारो...मत मारो। मेरी तुम्हारी ज्यादा दिन की दोस्ती नहीं। योंही मैं तुम्हारे लिए कैसे मरूँ !...

शिकारी साहब—(हँसती हुई आँखों को मींचते हुए और क्रूर प्रकार से हा-हा-हा करते हुए) ओह. क्या बकबक करते हो ! मैं सब सोच लूँगा, समझ लूँगा। (फिर हँसता है।)

बकरा—(छलकते हुए आँसुओं को कापुरुषता समझकर उन्हें रोकने की चेष्टा करता है। रुद्ध स्वर में) तुम मुझ पर हँसते हो !...

साहब—हो हो हो ही ही ही-ही ख़ा ख़ा ख़ा ख़ा (देर तक हँसता है)

बकरा—(आँखें लाल और चमकने लगती हैं।) तुम जानवर हो।......

साहब—मैं जानवर हूँ ? अच्छा, मैं जानवर हूँ। (व्यंगपूर्ण हँसी हँसता है।)

बकरा—नहीं, तुम राक्षस हो...पापी हो...दैत्य हो...आदमी हो...।

साहब—अच्छा, जानवर नहीं, मैं राक्षस हूँ। मैं वो ही सेटन हूँ जिसने हौआ के कान में आदम से निषिद्ध फल खाने का आग्रह करने को कहा था। अब तुम खुश हो न ? मैं वो ही सेटन हूँ। वो ही। अ—हा-हा-हा-हा [देर तक हँसता रहता है।]

बकरा—तुम मुझ पर दया नहीं खाते ?...?...?...मैं पशु हूँ। इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकता। मुझे छोड़ दो...छोड़ दो ! (पैर फटकारता है। गला छुड़ाना चाहता है। रस्सी कस जाती है। आँखें निकलने निकलने हो आती हैं।) मुझे शक्ति पाने दो कि मैं तुम्हारे लिए मर सकूँ।

साहब—(लाल, प्याले की तरह गोल आँखें निकालते हुए) क्या

रट लगाई है ?...कौन गधा कहता है तुम मेरे लिए त्याग कर रहे हो ! ('त्याग' शब्द पर खी-खी-खी करता है) मेरे लिए मर रहे हो ! (उसी क्रूर तरह देर तक हँसता रहता है और अपनी दानवी खुशी में पुट्ठों पर फट्ट-से हाथ मारता है और चुप हो जाता है ।)

बकरा—(अपने विचारों में मग्न बोलता चला जाता है) मैं अभी नहीं मरना चाहता ! नहीं-नहीं । मुझे सुन्दर तितलियोंवाली दुनिया देखने की साध है । जब मेरा मुँह अनजाने में कडुआ हो उठेगा और मरने को कहोगे, तो फिर मर सकूँगा ।...तुम मेरी हत्या ! ...!...!...! (साहब की आँखों में घूरता है ।) कर रहे हो ! यह पाप है ।

साहब—(आँखें चढ़ाते हुए) पाप-पुण्य मैं सब समझ लूँगा, पर तुम मुँह तो अपना चुप करो । शिकार चौकन्ना हो जायगा । (खाँस कर थूकता है और झिड़क कर) बड़े बातूनी हो । मेरे नुक़सान-फ़ायदे का खयाल नहीं करते ?

बकरा—नुक़सान-फायदा ?...!

साहब—(दाँत पीस कर) चुप बदमाश ! नहीं गोली मार दूँगा । पत्ती खड़क रही है । शेर आ रहा है । मैं राइफ़ल तौल रहा हूँ । अपनी बात फिर कह लेना ।

बकरा—शेर के हाथ चिथड़ा-चिंथड़ा होने के बजाय, मुझे गोली की मौत मरना कबूल है...लेकिन तुम मेरी बात तो सुनो ।

साहब—फिर कह लेना, फिर !

बकरा—(निराशा की हँसी हँस कर) फिर कब ?

साहब—(गुस्से से लाल अंगारा हो जाता है ।) कह दिया, फिर कभी । अभी नहीं ।

बकरा—(कुछ कहने की चेष्टा करता है। मुँह खुलता है।)...

साहब—(आपे से बाहर होकर, मुट्ठी बाँधता है) नहीं, नहीं, नहीं।

बकरा—(उसका मुँह गिर जाता है) ओफ़, तुम भी कितने निर्दयी हो।...मुझे जबर्दस्ती मौत के घाट उतारने से तुम्हें क्या मिलेगा ?...बोलो ?

साहब—(आँखें नचाते हुए) क्या नहीं मिलेगा ? पन्द्रह फ़ुट का एक आदमख़ोर...उसकी खाल..और...और नाम!...!

बकरा—(छिपे कटाक्ष में) और मुझे ?

साहब—(न समझते हुए) यही सन्तोष कि तुम मेरे लिए मर रहे हो।...

बकरा—इसे इस तरह आप न...

साहब—(क्रुद्ध होकर, उद्धत स्वर में) तो समझो कि मैं तुम्हें मार रहा हूँ। यही न ? (काली भयावनी विषाक्त हँसी हँसता है; और भंगिमा बदल कर) मेरे पास बन्दूक है...मैं तुमसे मज़बूत हूँ। ...मेरे पास न टूटनेवाली साँकल है ! . मेरे बाजुओं में ताक़त है !..और... मैं आदमी हूँ ! इसलिए मैं तुम्हें मरने के लिए मजबूर कर सकता हूँ। समझे ?...?...?

बकरा—(क्रोध में) न भी समझूँगा, तब भी कहना पड़ेगा 'हाँ' क्रूर...खूँखार भेड़िये !!!

साहब—(अपनी जीत पर एक बार जी खोलकर खिलखिलाकर) तुम मरने में अपना गुमान न मानना, क्योंकि तुम मर नहीं रहे हो, मारे जा रहे हो। मेरा काम होना है, समझे ? तुम्हारी जान सब से सस्ती है, समझे ?? इसलिए तुम मरोगे, समझे ??? ईश्वर के यह पूछने पर कि 'तुम यहाँ कैसे आये ?' तुम सिर्फ यह कह देना—'मैं कमज़ोर था। मुझसे एक मज़बूत आदमी था। उसने

मुझे एक कमज़ोर खिलौने की तरह तोड़ कर फेंक दिया। और मैं यहाँ चला आया।'

दृश्य २

(ईश्वर के दरबार में। ईश्वर एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा है। बगल में जिब्रील बैठा है जो गिद्ध के बड़े पंखों का कलम हाथ में लिये है और सब कुछ नोट करता जाता है।)

(बकरे के मुकदमे का वक्त आता है।)

ईश्वर– (प्यार के स्वर में) मेरे प्यारे बच्चे, तुम यहाँ कैसे आये?

बकरा—(अर्द्धचेतन अवस्था में। मर्त्यलोक के इस एक अकेले सत्य से पराजित होकर कहता है।)

'मैं कमजोर था। मुझसे एक मज़बूत आदमी था। उसने मुझे एक कमज़ोर खिलौने की तरह तोड़ कर फेंक दिया; और मैं यहाँ चला आया।'

प्रेम का बँटवारा

बाबू सीतलप्रसाद कचहरी से लौटे तो यों भी उनकी त्योरियाँ चढ़ी हुई थीं। आकर उन्होंने अभी मुश्किल से अपनी चारखाने की टोपी और अचकन उतार ही पायी थी कि उनका सबसे छोटा, तीन बरस का बच्चा प्रमोद कुछ मिट्टी खाता और खूब कीचड़ में सना हुआ आकर उनसे लिपट गया और उनकी अचकन पर कीचड़ के निशान बन गये। पहले तो वह दूर ही से 'हाँ-हाँ' करते रहे और कमरे में बचने के लिए भागने लगे; लेकिन नादान प्रमोद ने समझा कि बाबूजी आज 'हम भागें—तुम छुओ' खेल रहे हैं। वह भी अपने नन्हें पैरों से कमरे भर में दौड़ने लगा। इसके बाद बाबूजी एक गंभीर प्रतिमा की तरह खड़े हो गये और उन्होंने आशा की कि उनकी वह मुद्रा कुछ कारगर होगी। पर प्रमोद ने वह कुछ न समझा और लपक कर उन्हें कीचड़ में सान दिया। बाबूजी ने उसे खूब डपट कर

झिड़की सुनाई और फिर भी उस अबोध हृदय के न मानने पर, बड़ी बेरहमी से उसका कान मल दिया और प्रमोद को रोता और 'अम्माँ अम्माँ' करता छोड़ कर बाहर चले गये।

बच्चे को चिल्लाते सुनकर उसकी मा, जो अन्दर चौके में मछली तल रही थी, बाहर लपकती हुई आयी और अपने कलेजे के टुकड़े प्रमोद को रोता देखकर आगबबूला हो गयी। उसने वहीं से बड़े छः वर्षीय लड़के विनोद को ज़ोर से पुकारा—विनोद, विनोद इधर चलो। जाओ अपने बाबूजी को बाहर से बुला लाओ।

बाबूजी की अचकन लटक रही थी।

'तुमने मेरे लड़के को क्यों मारा ?'

'मेरे मना करने पर भी मुझ पर चढ़कर उसने क्यों कीचड़ पोत दी ?'

'वह बच्चा है, इतना नहीं समझते ?'

'अब बच्चे के लाड़-दुलार के मारे रोज़ नयी अचकन कहाँ से आयेगी, जरा सुनूँ तो ?'

'फिर भी क्या उस नादान बच्चे को मार कर उसकी जान ले लोगे ?'

'क्यों झूठ-मूठ ऐसी बात करती हो ? मैंने जान लेने की बात कब कही !'

'यह जान लेना नहीं तो और क्या है ? कहने न कहने से क्या होता है ?'

'वाह, तुम्हारे जैसे समझने वाले हों, तो हो गया !'

'हो क्या गया ? मैं सब समझती हूँ !'

'समझो चाहे न समझो, इससे मेरा क्या। अगर फिर यही शैतानी करेगा तो फिर पिटेगा।'

'ओफ्फोह, ऐसा मिजाज ? सातवें आसमान पर !'

'मिज़ाज नहीं तो क्या यों ही ! अगर वह तुम्हारे कलेजे का टुकड़ा है तो उसको क्यों नहीं मना कर देतीं कि मेरे पास आकर मुझे फिजूल तंग न किया करे। मुझे तंग होना नापसंद है।'

'तंग होना किसे पसन्द होता है; भला यह भी कोई कहने की बात है ? पर इसका, क्या मतलब कि आपने लिया और उसका कान मल दिया। क्या उसकी जान का मोल दो पैसा भी नहीं है ? दो पैसे में आपकी अचकन पलक मारते धुल आती, या न होता मैं ही साफ कर देती; मगर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि आपने उसे क्यों मारा ?'

'सीधी बात है। उसने मुझे तंग किया; मैंने उसे मारा। मैं अपने आराम में किसी का साझा नहीं चाहता, समझीं ? आखिर आदमी की तबियत ही तो है।'

जैसे बड़े सीधेपन के साथ बाबू सीतलप्रसाद ने अपनी सफाई पेश की थी; उनकी पत्नी ने उसकी नकल करते हुए मुँह बनाकर जवाब दिया—ऐसा बुत्ता किसी और को दीजिएगा। मैं सब समझती हूँ। आखिर आदमी की तबियत ही तो है, बरदाश्त हुआ, न हुआ ! हुँः। प्रमोद ने कुछ किया और आपकी तबियत पर फ़ौरन हमला हुआ, और फिर चाहे विनोद कुछ भी किया करे, आपकी बर्दाश्त थकना ही नहीं जानती। क्यों ? ठीक कहती हूँ न ? जरा बताइए तो, क्या यह सब कीचड़ अकेले प्रमोद ने लगाया है ?

इसके पहले कि बाबू सीतलप्रसाद बग़लें झाँकने से फ़ुरसत पायें, प्रमोद ने उँगली के इशारे से बतला दिया कि उसकी करतूत कहाँ-कहाँ लिखी हुई है। और विनोद साहब ने भी यह देखते हुए कि सारा कीचड़ पोतने का श्रेय प्रमोद लूटे लिये जा रहा है, बड़े गौरव से अपने निशान बताते हुए कहा—बाकी यह सब तो मैंने लगाया है।

अब बाबू सीतलप्रसाद का मुँह फीका पड़ गया; लेकिन जैसे उन्होंने अपने बचने के लिए ढाल ढूँढ़ निकाली—अरे, प्रमोद ने जब पहले अचकन सान ही दी तो फिर बचा ही क्या ? मैंने कहा, अब बचने से क्या ? लग जाये जितना लगना है ।

'मैं यह पुरान खूब समझती हूँ । यह सवाल लग जाये जितना लगना है का नहीं है, बल्कि प्रमोद और विनोद का है । इसे आप मुझसे छुपा नहीं सकते ।'

'तो भई, मैं छुपाना चाहता कब हूँ ? अगर तुम्हारा कलेजे का टुकड़ा प्रमोद है तो ठीक है, समझ लो कि मेरा विनोद है । इसे मैं छुपाता ही कब हूँ और अपनी बात न तुम ही छुपा सकती हो, चाहे कुछ करो...'

उनकी पत्नी ने जलकर राख होते हुए कहा—आप जो चाहें कहें, पर मैं ऐसी कमीनी नहीं हूँ । खैर पूछूँगी फिर...।' और उसने मन में कुछ कसद कर लिया ।

फिर उसने प्रमोद की तरफ देखकर कहा—क्यों जाता है बे, दूसरे दरवाजे लात खाने ? मैं मर गई थी जो वहाँ चला ? बड़ा गोल-गोल लड्डू रखा था न ! पड़ गई लात तो चला आया रोता…

फिर उसने नाराज़ होकर उसे एक चपत मार दी और प्रमोद ने नये सिरे से रोना शुरू कर दिया ।

दूसरे पल उसे पुचकार कर माँ ने कहा—जाने दे बेटा, इन लोगों को । ये बुरे लोग हैं । चल, तुझे अच्छी तली हुई मछली खिलाऊँ । विनोद भी मछली माँगने आयेगा, तब पूछूँगी उससे—बदमाश छोकरा ! गली-गली मारा फिरता है, है न बेटा ?

बाबू सीतलप्रसाद ने भी जैसे को तैसा किया—चलो बेटा, तुम्हें पुन्नू बाबू के यहाँ से लेकर चाकलेट और लेमन ड्रॉप्स खिलाऊँ । जाने दे इनकी

सड़ी हुई मछली। कैसी बदबू आती है। प्रमोद भी चाकलेट माँगने आयेगा तब उससे पूछूँगा कि मछली कैसी बनी थी। है न पिन्ना वह? लगता है बात-बात पर रोने...

विनोद बाबूजी के साथ बाहर चला गया और प्रमोद माँ के साथ-साथ चौके में।

भला बच्चे की तबियत मछली खाये बिना कैसे माने? वह आध घंटा बाद चौके में गया और बोला—अम्माँ, मुझे भी मछली खाने को दो...

अम्माँ ने तेवर बदल कर कहा—अब आया है बड़ा अम्माँ का सगा बनने! अभी तो टिल्ले पर चढ़े घूमते थे। जा, भाग जा। तुझे मछली खाने को नही मिलेगी। चबाता क्यों नहीं अपना चाकलेट-फाकलेट!

विनोद मचल गया और ज़मीन पर लोटकर रोने की तैयारी करने लगा।

माँ ने और बिगड़कर कहा—रो, रो, हरामज़ादे! न तुझे यही मछली के काँटे चुभाये तो तू भी क्या कहेगा।

विनोद इस डर से कि कहीं माँ अपनी इस धमकी को कार्यान्वित भी न करे, उठकर बाहर बाबूजी के पास पैरवी करने भाग गया। शायद माँ ने कभी उसे चिकोटी सचमुच काट ली थी।

प्रश्न

रात का निपट अँधेरा छाया हुआ था। मैं कमरे में सो रहा था। कमरे की खिड़कियाँ खुली हुई थीं और ठंढी हवा छनछनकर आ रही थी। एकाएक बिजली चमकी और मैं चौंककर उठ पड़ा। खिड़की से झाँककर देखा, घने बादल आसमान में छा आये हैं, बादल गरज रहे हैं और मेरे देखते देखते पानी भी मोटी धार में गिरना शुरू हो गया। फिर एकाएक बिजली जबर्दस्त ताकत से चमकी और मुझे दीख पड़ा, बाग में एक नन्हा सा फूल उग रहा है। रङ्ग उसका पूनो का चाँद है और उसके सौरभ में सदियों की व्यथा निहित है।

इस तरह अँधेरा तो छाया ही रहा; फिर मैंने आँखें फाड़कर देखा, उस हँसते चाँद-से फूल के चारों तरफ़ एक काला मोटा साँप आकर लिपट गया। कुछ देर वह शिथिल-सा पड़ा रहा। फिर उसने अपना दीर्घ फन उठाया और फूल को ओठ पर डस लिया। बिजली चमकी। सारा फूल

बुरी तरह सिहर उठा और थोड़ी ही देर में जहर से नीला पड़ गया। साँप उसकी टहनी से झगड़ता ही रहा और उसने एक बार फिर फूल की कोमल पँखुरियों में अपने जहरीले दाँत चुभा दिये, क्योंकि उसकी तबियत एक बार डसने से भर न पायी थी।

इसके बाद तो जैसे मैंने सुना, उस भुजंगम ने अपनी सफलता पर फूलकर, डोल-डोलकर, फटी, घर्राती हुई आवाज़ करना शुरू कर दिया।

साँप फूल को घूर रहा था। बिजली की चमक में उसकी वे दो छोटी सी जहर के मोती जैसी आँखें दीख पड़ती थीं।

× × ×

सबेरे निकला तो मैंने देखा कि साँप का कहीं पता नहीं है और फूल उसी प्रकार निर्द्वन्द्व हँसता जा रहा है।

अब तक जहर का नीलापन भी आकर उस हँसी में समा चुका था। उस दिन मुझे यह अनबूझ प्रश्न लगा था।

आदर्श और तथ्य की कोर में भी शायद यही प्रश्न है। वह आदर्श-वाद क्या जिसमें तथ्य का तीखापन आकर एकरस न हो जाय?

आकर्षण

मुझे देखते ही एक अभिन्न कलाप्रिय दोस्त ने मुँह में दबे चुरुट को चूसते हुए...

'हमारे बीच एक ऐसी समस्या है'.. मुंह में दबे चुरुट को रति के साथ चूसते हुए उन्होंने कहा—तुम जानते ही हो, मैं कविता पसन्द नहीं करता। मैं यथार्थवादी हूँ। इसी हेतु मैं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहता हूँ कि समस्त सौरमंडल एक शाश्वत सनातन आकर्षण की डोर से बँधा हुआ है। जिस पल भी यह आकर्षण मन्दा पड़ेगा और छुट जायगा, तारे और चाँद और सूरज और बिजली, लाल, हरी, नीली, पीली बिजली सब एक दूसरे से जा टकरायेंगे और गन्धक की तरह दम घोंटनेवाले, मिर्चे की तरह तीते और पिसे काँच की तरह भँभोड़नेवाले धुएँ से वायुमण्डल कराहने लगेगा। यही बात हमारे लिए भी लागू है। साथ ही आप जानते ही होंगे,

न्यूटन की थियरी आफ ग्रेविटेशन भी तो यही कहती है। यह आकर्षण शाश्वत है, चिरन्तन है, सारे जीवन का मूल आधार है...

और इतना सब एक साँस में ही कहते हुए वे मुझे अपने बहुत सुरुचि के साथ सजे हुए कमरे में घसीट ले गये और हमारी बहुत बार की पहचानी हुई तसवीर को दिखलाते हुए बोले—

इसे तुम फिर देखो। इसकी आत्मा को तुम पहचानो। इसका आकर्षण आज और कल से परे है, इसका सन्देश त्रिकाल के लिए सदा एक-सा है, इसकी आँखों की नीली गहराई में त्रिकाल की व्यथा है। इसकी नागिन-सी लटों से निकलती हुई सुगन्धि सदा योंही बहा करेगी, इसके अवयवों का यह उर्वशी रूप सदा योंही बुलाता रहेगा। संसार में जो कुछ भी श्रीमंदिर है, रूप-मधुर है, सब यहाँ आकर इसमें मिल गया है। मैं चाहता हूँ, तुम इस सत्य को पहचानो कि आकर्षण शाश्वत है।

शाश्वत शाश्वत शाश्वत।
मैंने मानने से इनकार किया।

× × ×

कोई तीस बरस बाद एक साठ साल का बूढ़ा एक तीस साल के नौजवान से झगड़ रहा था—

'हुँः, क्या मतवालेपन की बातें बकते हो ? इस ठठरी में, कंकाल में तुम मुझे सौंदर्य देखने को कहते हो ?'

'आप कहते क्या हैं ? आपका चश्मा तो नहीं बिगड़ गया है ?'

'इस कंकाल में, ठठरी में जिसके हर खँडहर से धोखे और दगा की सदा आती है, तुम मुझे सौंदर्य देखने कहते हो ? आकर्षण ? और सो भी शाश्वत ?'

'आप कहते क्या हैं। देखिए इसकी नागिन-सी लटें। इसकी मछली-सी आँखें, जिनकी नीली गहराई में त्रिकाल की व्यथा है। देखिए इसके फूल-से हाथ, कमल-से पैर, सुराही-सी गर्दन, पतली कमर। देखिए, देखिए।'

'क्या घास-खाई-सी बातें करते हो? आकर्षण शाश्वत; शाश्वत आकर्षण, हुँः। मुझे यह सब न सुनाओ, न सुनाओ।'

'वह न्यूटन का सिद्धान्त?...आपका चश्मा? उसे आप ठीक करवा लें। वरना आज आप कैसी बहकी हुई-सी बातें करते हैं? यह सब, ये देखिए बारीक अक्षर में, आपके ही शब्द हैं!'

'मेरे? मेरे? मैं? मैं ऐसी बेवकूफ़ी नहीं करता। किसी और ने मेरे दस्तखत...'

'ऐसा भला कहीं हो भी सकता है?'

'उफ़, ज़िद न करो, शुचि! यह मेरा लिखा नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, मुमकिन ही नहीं।...ये मरे बैल की-सी आँखें, बाल गोया भिड़ के छत्ते...जिस्म के अज़ो-अज़ो की यह जकड़न, गर्दन की जकड़न, चारों तरफ वही जकड़न, ऐंठन, और तुम इसे सौंदर्य कहते हो। हुँ! शाश्वत आकर्षण...शाश्वत...।'

और यह कहने के साथ उसकी आँखें सुर्ख और चेहरा राख के रंग का स्याह होता जा रहा था; एक विषएण भाव का साया शायद। शायद नहीं।

'तुम यह नहीं कह सकते, शुचि! यह तुम हरगिज़ नहीं कह सकते। तुम्हारा यह मतलब नहीं हो सकता। वह मेरी लिखावट नहीं है। हरगिज़ नहीं, शुचि, हरगिज़। मैं जानता हूँ।'

...और इसके साथ ही मेरे सामने कोई तीस बरस बाद की एक तसवीर धुँधली और कुहासे में भरी दीख पड़ी, जिसमें आज का शुचि, बूढ़े

को कुहनियों से ढकेलकर, उसकी जगह जाकर खड़ा हो गया है।...लड़ी के ये दाने शायद योंही सम और विषम होते हैं...बूढ़े की डबडबायी आँखें, युवक की उल्लास से नाचती मुद्रा। पल भर के फेर से युवक आगे बढ़कर बूढ़े की जगह जा खड़ा होता है और युवक की जगह कोई और ले लेता है...

*　　　*　　　*

कुछ सप्ताह बाद, मालकिन से नौकरानी ने एक बहुत बड़ी बात कही थी—

बहूजी, घर के चूहे बड़े ढीठ हैं। बड़े भैया की तसवीर तक न छोड़ी। एक छोर से दूसरे छोर तक कटी पड़ी है। इन चूहों का कुछ इंतज़ाम करो न, बहूजी !—मैंने उँघाई की हालत में नौकरानी को यह कहते सुना।

चूहे ? चूहे ? . हाँ, हाँ, ठीक तो है। मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आप कभी चूहेदानी में फँसे हुए चूहे की आँख में गौर से डूबे हैं ?...तो आप मानेंगे कि ऐंठी हुई मांसपेशियाँ, मरोड़ी हुई गर्दन और आकर्षण समानार्थी नहीं हैं। जैसा शुचि ने कहा, बात केवल चश्मे की है।

जब अक़्ल जुंबिश करती है...

मैं एक बहुत पैसेवाले घर में पैदा हुआ हूँ। दुनिया में अमीर और ग़रीब तो होते ही हैं और चूँकि ईश्वर के पाजामे में पाँव घुसेड़ने की लिप्सा मेरी नहीं है, इसलिए मैं अपनी-सी ही स्थितिवाले कुछ सेंटिमेंटल लोगों की तरह बेतुकी बातें बकते रहना नपसंद करता हूँ। इसे सब मालूम नहीं क्या कहते हैं, मुझे तो किशोर ने बतलाया भी था; लेकिन मैंने कहा—ऐसी निकम्मी अप्रासंगिक चीज़ याद रखने की तरद्दुद कौन उठाये। जब मेरे दोस्त कान्शंस की दुहाई देकर कहते हैं कि कान्शंस को यह ऊँच-नीच की खाई देखकर तकलीफ़ होती है, यह होती है, वह होती है, तो मुझे लाचारी दर्जे हँसी आ जाती है, क्योंकि मैंने कहीं पढ़ा है कि कान्शंस उस इलैस्टिक की तरह होता है, जिसे बच्चे खेल में खींच-खींचकर ढीला कर देते है। आप देख ही रहे हैं कि मैं पढ़ा हुआ भी हूँ। आपके इसी कान्शंस को लेकर मेरी एक दूसरी साहित्यिक उपमा भी है : मेरी सूझ है कि कान्शंस खच्चर के

नस्ल का जानवर है—यानी इस पर जितना ही लादो, उतना ही इसकी बोझ ढोने की ताकत बढ़ती है और जितना ही नर्मी से पेश आओ और आराम करने दो, उतनी ही मुटमर्दी हरामज़ादे को सूझती है और वह काम-चोर हो जाता है। पर जान पड़ता है, मेरी ये दोनों ही उपमाएँ चिकने घड़ों पर ही पड़ीं, क्योंकि किशोर, बालकृष्ण और ज्ञानप्रकाश बौड़म से मेरा मुँह ताकते रहे। सब मुझसे कहते हैं कि अगर तुम पढ़े और सुसंकृत आदमी हो, तो तुममें इस सर्वव्यापी अंधेरखाते के खिलाफ क्षोभ भी उठता होगा। लेकिन, हाय राम, मैं तो इन भुखमरे, अधकचरे ज्ञानियों से तंग आ गया हूँ, जो सिद्धात बनाते फिरते हैं, मानों यह भी लेमनचूस खाने की ही तरह आसान काम हो। सोचिए न, आप ही सोचिए न, अब भला मैं अपने को क्या कहूँ, जो कि शिक्षित हूँ और किसी क्षोभ-चोभ का शिकार भी नहीं। और क्षोभ भला हो भी क्यों ? मुझे और कुछ न चाहिए। मेरी चाय में एक सेकंड की भी देरी न हो, मेरा खाना ठीक वक्त पर मेज़ पर सजा मिले, मेरा सिगरेट का बक्स हमेशा मुहँमुँह भरा रहे और ऐसी ही कुछ बातों के टिपटाप रहने पर मुझे और कुछ न चाहिए। क्षोभ किस चिड़िया का नाम है ?—

अभी मेरे यहाँ बड़े जशन के साथ मेरी छोटी बहिन की शादी हुई है। दिन-रात बैठकर रेडियो-ग्रामोफोन पर ही कान खपाया किया। सैंकड़ों चूड़ियाँ बजा डालीं और रेडियो पर दुनिया की कोने-कोने की सैर कर डाली। यह सिलसिला कई दिन रहा। आख़िरी दिन हम सभी एक साथ बैठे हुए थे—लेकिन आपका पूछना ज़ायज़ है कि इन बेसिर-पैर की ड़िटेल्स का क्या महत्त्व ? ठीक है, मैं वास्तव में आपको एक वारदात सुनाकर उस पर आपकी राय लेना चाहता हूँ, क्योंकि उसे मैं खुद समझने में नाकाम रहा। हाँ, तो आख़िरी दिन हम सभी एक साथ बैठे हुए थे।

घण्टों से बाजा बजता रहा था। कह लें कि वातावरण ही रेडियोमय हो गया था। मालूम नहीं, क्या अल्लम-गल्लम सुनते-सुनाते मैं न जाने कब सो गया। देखता क्या हूँ कि एक बर्फ़ानी सुफ़ेद आकृति, ज़मीन पर लसरता हुआ चोगा पहने रेडियो के पीछे से निकली। कोई दो मिनट भौंचक होकर इधर-उधर देखती रही, फिर रेडियो सेट करके दिवाल में समा गयी। रेडियो बोलने लगा—

'...पूँजीपति ने आज अपने से ईर्ष्या करना छोड़ दिया है। अपने धन के अंबार की बचत को छोड़कर उसकी कल्पना और कहीं नहीं जाती। उसकी स्पर्द्धा अब बाहर न फैलकर अपने जागरण से लोहा लेने में खर्च होती है। जिसमें उसके अन्दर क्षोभ भट्ठी न सुलगा ले, वह अपने को यह बात समझाने की जी-तोड़ कोशिश करता है कि उसके भीतर क्षोभ का एक रेशा, एक ज़र्रा भी नहीं है और ऊपरी गर्व से वह पूछता है, क्षोभ किस चिड़िया का नाम है? लेकिन अपने अन्दर से ही उठने-वाले जवाब को सुनकर उसकी घिग्घी बँध जाती है। क्षोभ किस चिड़िया का नाम है, यह बतलाने के लिए एक घटना की ओर, जो इसी नगर में कुछ दिन पहले हुई है, संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। एक व्यक्ति ने अपने को क्षोभ से मुक्त साबित करने के लिए, वास्तव में क्षोभ से ही कुरेदे जाने पर आत्महत्या कर ली और 'मुझे किसी बात का कोई क्षोभ नहीं है'—इस आशय का एक पुर्जा अपनी जेब में छोड़ गया—आ हा हा हा, लोग भी क्या ही दिलचस्प हुआ करते हैं। यह बात कविता जैसी मालूम पड़ती है, पर इसका संकेत एक बड़े तथ्य की ओर है : कि पूँजीवाद एक चौखटे का नाम है। व्यक्ति गर्भाधान के साथ ही उस चौखटे में अच्छी तरह जड़ दिया जाता है। और इस तरह व्यक्ति का विकास उस चौखटे की परिधि से निर्दिष्ट होने लग जाता है। यह चौखटा भी किसी-न-किसी दिन—

जल्दी ही—टूटेगा, क्योंकि कालान्तर में उसका काठ भी पुराना और दीमक-ग्रस्त हो जाता है, पर यदि अकेला व्यक्ति या व्यक्तियों का छोटा समूह, ऐसा होने से पहले ही चौखटे का नियंत्रण भेदना चाहता है, तो उसे एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर उस चौखटे को चीरते हुए निकलना होगा। ऐसा करने में बदन का लहूलुहान हो जाना सहज और स्वाभाविक है। उस आत्महन्ता ने भी यही स्पष्ट कर दिया है...'

इस अन्तिम वाक्य के साथ जब मेरी नींद टूटी तो बालकृष्ण कह रहा था—हो काफ़ी लगो आदमी। इस एक घण्टे में हमने बेहतरीन गाने सुने और तुम सो रहे थे।

मैंने बौखलाहट के से स्वर में कहा था—पहले एक बात तो बताओ क्या अभी हाल किसी ने सुईसाइड किया है!

'नहीं तो। लेकिन कुछ कहो भी तो, बात क्या है। इतने परीशान क्यों नज़र आते हो! कोई बुरा ख़्वाब तो नहीं देखा!'

इस पर मैंने सारी बात उन्हें अथ से इति तक सुना दी।

तब ज्ञानप्रकाश ने कहा—खूब! सपने की भी भली चलाई।, दिन में यों गड़बड़ मति लेकर सोने से बुरे सपने दिखायी देते ही हैं—

उसने भी शायद शुतुरमुर्ग की चाल चलते हुए कोरस मिलाकर कहा—सपना है तो आखिर सपना ही—

'सपने भी काफ़ी अनर्गल होते हैं।' उसने धीमे से जैसे अपने को ही समझाते हुए कहा, और खिझी आवाज़ में नौकर को पुकारा—'छोकरा, छोकरा, कहाँ मर गया हरामज़ादे, छोकराऽ ऽ ऽ ऽ'

फूटी थाली का-सा उखड़ा उखड़ा स्वर देर तक हवा में गूँजता रहा....

कलाकार

ठिठुरन गिर रही थी। ऐसा लगता था, जैसे सब कुछ अपने ही में ऐंठा और सिमटा जा रहा हो। मुर्दे के कफ़न की-सी निःस्तब्धता हर ओर फैली हुई है। कोई आवाज़ नहीं हो रही है, कभी कभी एक कीड़ा कुछ डरा डरा सा टिटर कर रहा है। उसी से निःस्तब्धता अंशतः भंग होती है और फिर दोहरी हो पड़ती है।

तीन महीने से सूरज नहीं निकला है, और इस बीच बर्फ़ लगातार गिरती रही है। इस वक्त धरती पर उसकी बड़ी मोटी तह जमी हुई है और पेड़-पत्ते भी उसमें कुछ डूबते-उतराते-से खड़े हैं। उस बर्फ़ की गह-राई तो उन्हीं स्थलों पर मालूम पड़ती है, जहाँ किसी विशेष दबाव के कारण गढ़ा हो गया है और नीचे का पानी ऊपर सतह पर आ गया है। सिर्फ पैर धँस जाने से आदमी गले तक अन्दर चला जाता है और फिर मेहनत करके निकल पाता है।

कलाकार

पतझड़ के आखिरी दिन हैं, क्योंकि पीले पत्ते भी अब पेड़ में न रहकर उस चट्टान पर फैले पड़े हैं जैसे तरल राँगे पर सोना। जो पेड़ हैं वे ठूँठ हो गये हैं और उनका हाड़ दिखता है और ऐसा लगता है कि जैसे वे उन पीले पत्तों के लिए रो रहे हों, जो घर छोड़कर अनजान चट्टान का सहारा लिये पड़े हैं। पर वे मूक, निःस्तब्ध, अचल और स्थिर हैं, क्योंकि इस सारे दिन रुई जैसी बर्फ़ गिरी है और पानी में डूबी प्रकृति डरी हुई है।

चींटियों के मकान अपने में खुश खड़े हैं, क्योंकि उनके सारे दरवाज़े बन्द हैं और उन दीवालों के अन्दर जलती हुई आग से उनको खुशगवार गर्मी मिल रही है, और दूर-दूर तक फैली हुई बर्फ़ उनको गला नहीं सकती। ठण्ढक बेहद पड़ रही है। यहाँ तक कि सारे दरवाज़े बन्द रहते हुए और लाल अंगारे धधकते हुए भी एक नन्हीं चींटी को सरदी के मारे सिकुड़न मालूम पड़ी और उसने अपनी माँ से कहा—माँ, मुझे बड़ी सर्दी लग रही है। कभी और भी हमारे देश में ऐसी सर्दी पड़ी थी?

उसकी माँ ने इसका कोई उत्तर देना उचित नहीं समझा और चुपके से उठकर अँगीठी पर गरम होता हुआ पानी उठा लायी, उस बच्ची को गरम स्नान कराया और तीन मोटे कम्बलों में लपेटकर सुला दिया। चींटियों की दुनिया में इस समय सब मीठा और सुवासित खाना खाकर सो रहे हैं।

इसी वक्त एक कैटरपिलर हाथ में वायलिन और उसकी छड़ी लिये, रात के इस पहर में उसी बर्फीले दलदल में घूम रहा था। सब कुछ अँधेरा है। कैटरपिलर के पैर बार-बार अंदर चले जाते हैं और उसका दो सौ चार बार थेगड़े लगाया हुआ छः वर्ग इञ्च के चारखाने का मोटा पतलून भींग जाता है, और अब वह इतना भारी हो गया है कि जोर लगाने से उठ पाता है और दूसरे ही पल फिर उसी दलदल में चला जाता है,

जब उसे नयी ताकत लगानी पड़ती है। इस तरह करते करते वह एक मील आ पाया है। उस जकड़ देनेवाले शीत में भी वह पसीने में डूबा हुआ है।

पतझड़ में वियोगी मालकोस को महीन तार पर खींचते-खींचते उसे तीन महीने कुछ सुध न रही। उसके बाल बहुत नाचे तक चले आये हैं और अजब बीहड़ मालूम पड़ते हैं। उसके जूते बर्फ से भारी हैं और नये नहीं कहे जा सकते। टाट की उसकी कमीज, जिसका कालर विचित्र है, भारी हो रही है और अब पानी की मोट की तरह हो गयी है।

ऐसे बेढंगे समय में वह इस तरह क्यों भटक रहा है, इसे यदि हम बतलाना चाहें तो बहुत समय लगेगा। पर उसके साथ शायद ऐसा हुआ कि जब पतझड़ में पहला पत्ता पीला पड़ा तो वह अपने डेरे पर से निकल पड़ा, क्योंकि मालकोस में दर्द है, और वायलिन और गिटार पर उस राग को बजाने में उसे विशेष सुख मिलता है, क्योंकि वह भावुक है, और कलाकार है, इसलिए अतीत का पुजारी है और पुराने घाव को हरा कर देना उसे अच्छा लगता है।

अभी तो पहला ही पत्ता पीला हुआ था, पर अवसाद की रेखा दौड़ने लग गयी थी। कैटरपिलर निकल पड़ा, और चलते-चलते एक पुराने बरगद के पेड़ पर पहुँचा।

उसने बरगद से पूछा - मैं यहाँ बैठकर वायलिन बजाना चाहता हूँ। आपकी आज्ञा है?

बरगद ने सिर हिलाकर उत्तर दिया—तुम बजा अवश्य सकते हो, और जब जाना हो चले जाना, पर यहाँ खाने को नहीं है।

कैटरपिलर ने इसे शायद सुना ही नहीं कि यहाँ खाना है भी या नहीं, क्योंकि कलाकार को खाने की चिंता नहीं होती। और वह कलाकार था। वह आज्ञा पाकर उसी पल वायलिन लेकर बैठ गया और वायलिन के

तार मिलाने लगा। और उँगली बढ़ाकर तारों को कसने के लिए उसने खूँटियाँ ऐंठी।

'पतझड़ का पहला ही पत्ता तो अभी पीला हुआ है, और वायलिन मेरे हाथ में है।' कैटरपिलर ने कहा।

कैटरपिलर ने वायलिन के तार मिला लिये और जब उसने पहला स्वर निकाला स रे ग म तो ऐसा लगा कि पुराने बरगद की मोटी डालों से गूँजकर और वहाँ घोंसलों में सोती चिड़ियों को थपकी देकर लौटा स रे ग म। आवाज में बड़ी गूँज है और बहुत दर्द। और पतझड़ में मालकोस, और मालकोस में दर्द ही तो खास चीज है।

कैटरपिलर मालकोस निकालता रहा, निकालता रहा। कितना वक्त जाता है, इसका उसे बोध न रहा; क्योंकि वह मालकोस बजाता रहा और पतझड़ में मालकोस विशेष राग होता है और वही वह उन तारों को बोलने के लिए कहता रहा है।

कैटरपिलर ने सोचा—मालकोस राग की ताकत तो तब जान पड़े जब पीला पत्ता उड़कर बर्फ़ में आकर हमेशा के लिए सो जाय। उद्वेग इतना हो कि वह कटकर गिर पड़े।

अभी थे तो बहुत-से पीले पत्ते, पर कैटरपिलर ने सामने के पेड़ में एक पीला पत्ता देखा।

फिर उसकी एक आँख वायलिन के तार पर थी, और दूसरी उस पीले पत्ते पर। उँगलियाँ उसकी दौड़ रही थीं और एक से एक आँसू घुमड़ानेवाली गतें निकल रही थीं। वह पसीने से तर हो रहा था, उँगलियाँ हमेशा की तरह दौड़ रही थीं।

उसकी एक आँख पीले पत्ते पर थी, एक वायलिन के तार पर।

कैटरपिलर बजाता रहा, बजाता रहा। उसने समय की संज्ञा खो दी, स्थान की संज्ञा खो दी, वह तो केवल बजाता रहा और उसकी एक आँख पीले पत्ते पर थी और एक वायलिन के तार पर। क्योंकि मालकोस की ताकत ही इसी में है कि पीला पत्ता बर्फ पर हमेशा के लिए सो जाय। शाम और रात बीत जाती थी। इस तरह कई सप्ताह बीत गये। उसे कोई चेतना अवशिष्ट न थी। पीला पत्ता हिल हिल तो पड़ता था पर गिरता नहीं था।

बजाते-बजाते आज दो महीने हुए, और कैटरपिलर ने अपनी उस एक लगी हुई आँख से देखा कि उस पत्ते का एक टुकड़ा मालकोस के दर्द से कटकर गिर पड़ा।

उसकी आँख उसी तरह लगी रही और उँगलियाँ उसी तरह दौड़ती रहीं। उन तारों में से आसमान को चीरने वाली हूक उठ रही थी। 'और मालकोस में यही हूक तो है जो मुझे पतझड़ में विशेष सुहावनी मालूम देती है' कैटरपिलर ने कहा। कैटरपिलर की मांसपेशियाँ कड़ी हो गयीं, आँखें निकल-सी आयीं और साँस बैठने लगी।

फिर कुछ दिन तान उठती रही, और एक महीना और बीत गया। पीला पत्ता अभी कटा न था, पर उसकी साँस का सूत टूटने को आया। पर वह बजाता ही रहा, क्योंकि पतझड़ में मालकोस विशेष राग होता है और वही वह निकाल रहा था। कैटरपिलर झूमता हुआ बजा रहा था—तन्मय।

उस पुराने बरगद की डाल पर गिलहरियाँ कुछ कुतर और कुछ धरती-उठाती दौड़ रही थीं। उनमें से एक युवती गिलहरी का किसी से प्रेम था और प्रेमी कहीं परदेस था। मालकोस के दर्द से उसे एक विचित्र दर्द की गुदगुदी मालूम पड़ी। कैटरपिलर के साथ झूमती-झूमती वह भी बहुत देर तक सुनती रही और उस वायलिन के पतले तार के खिंचने पर वह उस ध्वनि के साथ रो-रो पड़ती थी।

गिलहरी ने आकर कहा —भाई कैटरपिलर, तुम यह राग न बजाओ इससे मुझे चोट पहुँचती है ।

गिलहरी को ऐसा लगा कि जवाब में कैटरपिलर ने बजाकर ही कहा— गिलहरी बहन, मैं क्या जानूँ किसे बिछोह है किसे संयोग ? मैं संसार में किसी के निमित्त तो बजाता नहीं जो उसका लेखा रखूँ । पतझड़ के पीले पत्ते उड़ रहे हैं । मालकोस राग पतझड़ का विशेष राग होता है । मुझे बरगद के नीचे बैठकर मालकोस बजाने में बड़ा सुख मिलता है । मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ और इसलिए केवल अपने ही लिए झूमता और उँगली दौड़ाता हूँ । यदि मैं अपने लिए बजाऊँ और इससे किसी को चोट पहुँचे तो इसमें मेरा दोष क्या ?

गिलहरी को लगा था कि कैटरपिलर ने उसे उत्तर दिया था ; पर कैटरपिलर की एक आँख तो पीले पत्ते पर थी जो आधा कट चुका था, और एक वायलिन के तारों पर ; और चारों उँगलियाँ दौड़ रही थीं, और वेदना वहाँ से निकलकर बह रही थी । समस्त निःस्तब्ध जगत् रो-सा रहा था । पर कैटरपिलर को इसकी संज्ञा न थी । उसने देखा पीला पत्ता अभी वहीं पर है । उसने उँगलियाँ दूने ज़ोर से दौड़ायीं, और उस ध्वनि के साथ झूमता-झूमता ज़मीन पर जा रहा । नीरव जगत और भी नीरव हो गया । एक तरल सीसे की-सी वेदना बही और समस्त चेतना उसी में डूबने उतराने लगी ।

पुराने बरगद ने भी मानो अपनी सफेद दाढ़ी में उँगली छिपाते हुए कहा—कितना दर्द है !

पर कैटरपिलर ने देखा कि पीला पत्ता अभी वहीं पर था । उसकी माँसपेशियाँ अकड़ गई थीं और आँखें निकली आ रही थीं । साँस उसकी बैठ रही थी । पर उसे तो अभी बजाते जाना होगा, क्योंकि पीला पत्ता

अभी गिरा न था। और मालकोस की ताकत इसी में है और वही वह बजा रहा है। 'और पतझड़ में मालकोस और मालकोस में दर्द ही तो खास चीज़ है।'

कैटरपिलर की अकड़ी हुई उँगलियाँ और तेज़ चलने लगीं। विद्युत का-सा वेग उसकी उँगलियों में था।

अपना सारा हृदय का रक्त देकर वह बजाने लगा। वायलिन का सिरा उसके सीने में गड़ गया, और ख़ून बहने लगा। कैटरपिलर ने चलकर रुकना नहीं सीखा है। खून गिरता गया, चेतना भी लुप्त हो चली, कपड़े उसके उड़ने लग गये और फिर अनेक जगह से फट गये। पर वह बजाता ही रहा। क्योंकि वह पत्ता अभी वहीं था। और कलाकार हार मानकर रुकना नहीं जानता।

वायलिन के दो तार टूट गये। पर कैटरपिलर को इसका बोध न था। क्योंकि उसकी एक आँख तीन चौथाई कटे पीले पत्ते पर थी और एक बहते हुए खून पर; क्योंकि उसी गिरे हुए लहू से वह अपना दर्दनाक राग खरोंच देना चाहता था!

वह बचे हुए एक ही तार पर बजाता रहा। फिर कितने दिन और बीत गये, यह न जानते हुए उसकी लगी हुई आँख ने देखा कि वह एक चौथाई पीला पत्ता अभी गिरा न था और मालकोस की ताकत इसी में है। और वह पतझड़ में उसे ही बजा रहा था। 'और पतझड़ में मालकोस और मालकोस में दर्द ही तो खास चीज़ है।'

बाकी बचे हुए खून ने एक बार फिर धमनियों को बेतहाशा दौड़कर फाड़ देना चाहा। अकड़ी उँगलियाँ और भी अकड़ गयीं, फिर उसने देखा, यह बाक़ी पत्ता भी एक बार बड़े ज़ोर से हिला और मालकोस के दर्द से कटकर गिरा और बर्फ की चादर ओढ़कर हमेशा के लिए सो गया।

कैटरपिलर के हाथ से वायलिन छूट कर गिर गयी, बो अलग जा पड़ी। आवेग कम हो गया। पेशियाँ ठण्डक पाकर जकड़ गयीं। कैटरपिलर वहीं मुर्दे की तरह सो रहा...वायलिन और बो उसके दो तरफ़ थीं।

कैटरपिलर ने जब फिर अपनी चेतना सँभाली, शीत अपना पूरा काम कर चुकी थी। उसका शरीर अकड़कर बेकाम हो गया था। उसने अपने को किसी तरह उठाया और घसीटते-घसीटते उस ओर को ले चला, जिधर उस सारे फैले हुए अंधकार के बीच रोशनी दिख रही थी। वे चींटियों के महल थे अपने में खुश, क्योंकि वे गर्म थे और बर्फ़ उन्हें गला नहीं सकती।

उस बर्फ़ के बीच वह रोशनी बड़ी भली मालूम पड़ती थी, और कैटरपिलर उसी को देखता आगे बढ़ता जा रहा था।

वायलिन पर उँगलियाँ दौड़ाते-दौड़ाते तीन महीने का वक्त निकल गया, पर इस बीच कैटरपिलर को भूख नहीं मालूम पड़ी, और इस लिए बुड्ढे-पुराने बरगद का कहना भी उस पर बेकार गया। तीन महीने तक भूख-प्यास सब छुटी हुई थी। पीला पत्ता झर पड़ा। मालकोस खतम हो गया और उसे एक बार सोचने का मौका मिला कि उसे भूख लगी है।

इस समय वह कैटरपिलर भूख मिटाने की खोज में निकला है। मारे भूख के उसकी आँतें निकली पड़ती हैं। वह एकदम निर्जीव पड़ा है। और उसकी गति धीरे-धीरे बंद हो रही है।

उसे सिर्फ़ दूर पर जलती रोशनी दिखलाई पड़ती है जो उन मकानों की लैटिस से छनकर आ रही है, जिनके अन्दर का चींटी-लोक महँगे और स्वादिष्ट पदार्थ खाकर अंगारों से गर्म किये हुए कमरों में मोटे कंबलों में लिपटा मौज कर रहा है। वहाँ सब कुछ—गान-वाद्य आदि हो रहा है।

और उन्हें बाहर के जाड़े-पाले, बर्फ़-तूफ़ान से कुछ नहीं करना है। मकान भी खुश हैं—क्योंकि बर्फ उन्हें गला नहीं सकती।

कैटरपिलर अपना मोटा पैंट पहने उस रोशनी की तरफ बढ़ रहा है। उसकी टाँगें बर्फ के नीचे चली जाती हैं। वह उन्हें जोर लगाकर निकालता है। पर इस कोशिश में अँधेरे में रास्ते से दूर जा पड़ता है। रोशनी मंदी पड़ने लगती है, और निराशा उसे घेरने लगती है। रह-रहकर तीर-सा चुभनेवाला बर्फ़ानी तूफान उठता है और बर्फ के छोटे-छोटे टुकड़ों को उठाकर गोली के छर्रों की तरह मुँह पर मारता है। इस सारे पानी और बर्फ से कैटरपिलर ऊपर से नीचे तक डूबा हुआ है और भारी है। वह छः इंच चलता है और चार फुट नीचे बर्फ में जा धँसता है। दूसरे बर्फ़ानी तूफान के इन छोटे छर्रों से उसकी आँखें मुँदी जाती हैं। और एक बादल-सा छा रहा है। इन सब कामों से उसे पन्थ नहीं सूझ पड़ता। उसका चेहरा भी लहूलुहान हो रहा है, जहाँ उसे बर्फ के तमाचे पड़े हैं। उसकी साँस का धागा बेहद कमजोर हो गया है, और बे भरोसे का है।

पर उसे वही रोशनी दिखायी पड़ रही है और उसी को देखता वह चला जा रहा है और नहीं जानता कब पहुँचेगा। वह खाने की बाबत सोच रहा है—उसे बीयर तो कोई देगा नहीं। न ह्वाइट हार्स। न शैम्पेन। न पोर्ट। अन्दर पसलियों तक समायी हुई ठण्ढक कैसे जायेगी!

वह यह भी सोचता जाता है कि अगली पतझड़ मालकोस न बजाकर बिहाग बजायेगा और उस राग से बर्फ चीरकर, पानी का ठण्डा सोता निकालेगा।

उसके पेट में चारा नहीं है; और उसकी साँस का धागा कमजोर है। अगली पतझड़ वह बिहाग बजायेगा। 'भूख तो लगती ही है, पर उसी को सोचकर कलाकार मर तो नहीं जा सकता न?' कैटरपिलर ने सोचा।

रोशनी का पल्ला पकड़े-पकड़े वह दरवाजे पर पहुँचा और उसने कुंडी खटखटायी।

दरवाजा खोलकर अन्दर से एक चींटी निकली और उसने पूछा—क्या काम है? रात को हमारे यहाँ कोई किसी से नहीं मिलता। चले जाओ।

कैटरपिलर ने सहज भाव से कहा—मैंने चार महीने से कुछ नहीं खाया है।

इस पर चींटी अन्दर गयी, और अपनी सौ-पचास सहेलियों को बटोर लायी।

उन सबको देखकर कैटरपिलर ने अपनी बात दोहरायी—मैंने चार महीने से कुछ नहीं खाया है। मैं इन सारे दिनों मालकोस बजाता रहा, और खाने की कुछ सुध न थी।

तब चींटियों ने एक साथ मिलकर कहा—अभी मालकोस बजाते रहे हैं तो जाइए अब बाकी सारे दिन नाचिए। यहाँ आप क्यों आये हैं?

कैटरपिलर—मुझे कुछ खाने को चाहिए। मैंने चार महीने से कुछ नहीं खाया है, चावल का एक कण तक नहीं। आज तक मैं कभी झूठ नहीं बोला। अगर बोला होता, तो कहीं मेरे मालकोस से पेड़ का पीला पत्ता कटकर गिर सकता था?

चींटियों की रानी ने राजसी ढङ्ग से कहा—सुनिए महाशय चींटियाँ सुकुमार जीव हैं, और इस तरह बर्फ में दरवाज़ा खोलकर खड़ी रहना पसन्द नहीं करती हैं। हमें बेकार का रोना नहीं चाहिए। अपना काम थोड़े शब्दों में बोलिए।

कैटरपिलर—मैं भूखा हूँ। मुझे खाना चाहिए।

राजमहिषी मैं भिखमङ्गों को भीख नहीं देती।

कैटरपिलर—मैं भीख नहीं माँगता, देवी, आप भूलती हैं......

राजमहिषी—मैं कभी कुछ नहीं भूलती। नहीं तो इतना बड़ा राज्य क्या आपकी सारङ्गी पर टिका है।

कैटरपिलर—आप भूलती हैं.....

राजमहिषी—इसे पिन गड़ाकर निकाल बाहर करो; यह बदमाश है।

कैटरपिलर ने सात्विक क्रोध से कहा—ओ हो, क्या कहती हैं आप ! मैं बदमाश नहीं हूँ। मैं कलाकार हूँ।

राजमहिषी—एक ही बात है।

कैटरपिलर—मैं कलाकार हूँ और आपको मेरा एहसानमन्द होना चाहिए। क्यों होना चाहिए, अभी आपको बताता हूँ। मैंने इस पतझड़ में आपको जाड़े-पाले में बैठकर मालकोस सुनाया है। अगले पतझड़ में बिहाग सुनाऊँगा। इसी एहसान की क़ीमत मैं थोड़ा खाना चाहता हूँ। क्योंकि चार महीने से मैंने कुछ नहीं खाया है। बहुत भूखा हूँ, और मैं झूठ नहीं बोलता।

राजमहिषी—पर मैंने कह तो दिया कि यहाँ भीख नहीं मिलती।

कैटरपिलर—इसी तरह आप मेरी अनवरत सेवाओं का मूल्य चुका रही हैं ! इसका मुझे खेद है। मैंने इतने दिन आपका मनोरंजन किया, आपको आँसू दिया, मुसकान दी और आप मुझे सूखी रोटी के दो टुकड़े देने से इनकार करती हैं ! आपको धिक्कार है।

राजमहिषी—आप इतना रोष क्यों करते हैं ? मैं कहती हूँ कि आपने मेरे लिए तो बजाया नहीं, तो मैं आपको रोटी क्यों दूँ ? आप तो अपने लिए ही बजाते रहे हैं। तब ! अगर आप हमारे यहाँ आकर थोड़ा-सा माली का काम कर देते तो शायद रोटी का सवाल उठ सकता था। आपने मेरे बर्तन

भाँजे होते तो भी कोई बात थी। पर जब आपने विशेष रूप से मेरे लिए कुछ नहीं किया, तो मैं आपको रोटी क्यों दूँ ?

कैटरपिलर—पर इससे क्या ? आपका मनोरंजन तो हुआ ही है ?

राजमहिषी—पर मैं झनकारती हुई झिल्ली के पास तो डबल रोटी का टुकड़ा और पुलाव लेकर नहीं दौड़ी जाती ? मनोरंजन तो उसके सङ्गीत से भी होता है। और न मैं पतङ्गे के घरवालों का पेट भरने का ही बीड़ा उठाती हूँ, यद्यपि उसे दिये पर गिरकर मरते देखने से भी मनोरंजन अवश्य मिलता है। जैसे पतङ्गा मेरे लिए दिये पर नहीं मरता, जैसे झिल्ली मेरे निमित्त नहीं झनकारती, और मैं झिल्ली को चावल या तुस का कन भी नहीं देती, तब फिर उसी तरह आपको क्यों दूँ ?

कैटरपिलर—पर मैं तो कलाकार हूँ। यदि कोई मुझे खाने को न देगा, तो एक कलाकार की मृत्यु हो जायगी।

राजमहिषी—मरने-जीने के लेखे से मुझे कोई सरोकार नहीं। दूसरे अपने मनोरंजन के लिए तो हम ही पानी उबालते वक्त, नहाते वक्त, बच्चे को दूध पिलाते वक्त गा लेती हैं। तुम्हारी ज़रूरत क्या है ?

कैटरपिलर—पर तुम्हारे गीत में वह दर्द, वह कला कहाँ ?

राजमहिषी—न सही। पर मनोरञ्जन तो कम नहीं ? फिर यदि हमें दूसरे किसी से मनोरञ्जन लेना है, तो तुम्हें, एक बाहरी को पैसा देने से हमारा क्या फायदा ? अपने ही यहाँ चींटियों में एक से एक कलाकार हैं। किसी को सितार बजाना, किसी को गिटार, किसी को पखावज, किसी को मृदंग बजाना सिखा दूँगी, और किसी को नाच; फिर वे नाचेंगी छूम-छूम। फिर तुम्हें कौन पूछेगा कलाकार महोदय ?

कैटरपिलर—पर आज तो मुझे खाने को दो, क्योंकि मैं बहुत भूखा हूँ, मैंने चार महीने से कुछ नहीं खाया है, और कलाकार झूठ नहीं बोलते।

इस पर राजमहिषी ने कोई उत्तर न देकर, महल के दरवाज़े झड़पकर बन्द कर लिये।

कैटरपिलर को जवाब मिल गया। वह बाहर ठिठुरता सर्दी में खड़ा था। कैटरपिलर मरता, भूखा, निराश, लड़खड़ाता लौट पड़ा।

उसके शरीर में ताकत शेष न थी। और कोई जगह भी न थी जहाँ वह लौटकर जाना चाहता; क्योंकि खाना तो बड़ी दूर तक कहीं न दिखता था। पर वह अपना सूखा हाड़ लेकर चल पड़ा।

उससे बीस कदम दूर एक पीला पत्ता दीख पड़ा। उसने सोचा, उसी से भूख मिटा ले। फिर दूसरे क्षण उसने अपने से प्रश्न किया—क्या मुझमें बीस कदम चलने की शक्ति है?

उसी बर्फ़ीले दलदल में घिसटता वह इतनी दूर पहुँचा कि अपनी वायलिन बजाने की स्टिक से उस पत्ते को गिराकर मुँह में ले ले, जो कुछ भी खाने को तैयार था।

उसी दम एक तूफ़ान का झोंका आया; कैटरपिलर का हाथ उसे पा लेने को बढ़ा हुआ था; पत्ता उड़ा और आँख से ओझल होकर कहीं जा पड़ा।

अपना निकम्मा शरीर लेकर कैटरपिलर वहीं ढेर हो गया। एक बर्फ़ का तूफ़ान आया। और वह शरीर उसके बहुत नीचे जा पड़ा।

उसके शरीर पर बर्फ़ की पहाड़ी, और उसी पहाड़ी पर एक पीला पत्ता, जो हँस हँसकर कलाकार का उपहास कर रहा था!